'मास्टर' मणिमालायाः २३२ संख्यको मणिः (न्यायविभागे ९)

सर्वविधशास्त्रिपरीक्षायां निर्द्धारितः

श्रीलौगाक्षिभास्कराचार्यकृतो मीमांसायाः

अर्थसंग्रहः

[संस्कृत-विधि—हिन्दी-प्रभायुतः]

सटीकपरिष्कर्त्ता—

श्रीराजनारायणशुक्लः

प्रधानाचार्यः

शास्त्रार्थमहाविद्यालय, काशी

मूल्यम् १)

'मास्टर' मणिमालायाः २३२ संख्यको मणिः (न्यायविभागे ९)

॥ श्रीः ॥

श्रीलौगाक्षिभास्करप्रणीतो मीमांसायाः

अर्थसङ्ग्रहः

भारतप्रसिद्ध—शास्त्रार्थकलावतार—संस्कृताशुकविचक्रवर्त्ति—सरयूपारीणशुक्ल-
स्व० पण्डितराजश्रीवेणीमाधवशास्त्रितनूजेन प्रायःपञ्चाशद्ग्रन्थ-
निर्मात्रा काशीस्थशास्त्रार्थमहाविद्यालयप्रधानाचार्येण
दार्शनिकश्रीराजनारायणशुक्लमहोदयेन
विधि-प्रभाभ्यां संयोज्य
परिष्कृतः ।

—:०:—

स च
काशीस्थ—'संस्कृत—बुकडिपो'ध्यक्षैः
मास्टर खेलाड़ीलाल ऐण्ड सन्स महोदयैः
स्वीये 'मास्टर—प्रिण्टिङ्ग—वर्क्स' नाम्नि मुद्रणालये
मुद्रापयित्वा प्रकाशितः ।

—:०:—

प्रथमं संस्करणम्]   सन् १९५३ ई०   [मूल्यम् १)

प्रकाशकः—
बी० एन० यादव,
अध्यक्ष, मास्टर खेलाड़ीलाल ऐण्ड सन्स,
संस्कृत बुकडिपो,
कचौड़ीगली, बनारस-१

मुद्रकः—
मास्टर प्रिण्टिङ्ग वर्क्स,
बुलानाला, बनारस-१

समर्पणम्

समादरणीयसमुदारचेतसाम् , मीमांसाशास्त्ररसिकानाम् , अध्यात्मविज्ञानैकपर-
तन्त्राणाम् , द्विजकुलमुकुटमणीनाम् , श्रौतस्मार्त्तकर्मानुष्ठाननिष्ठानाम् ,
आयुर्वेदमार्त्तण्ड—रायबहादुरादिराजकीयपदवीभृताम् , पञ्चाल—
प्रदेशान्तर्गतभिवानीनगरभूतपूर्वन्यायाधीशानाम् , निखि-
लभारतवर्षीयायुर्वेदविद्यापीठ—महासभा—प्रधान—
मन्त्रिणाम् भारतप्रसिद्ध 'बाबा काली-
कमलीवाला पञ्चायतक्षेत्रहृषीकेश-
संस्था'साचिव्यमलङ्कुर्वताम् ,
विविधयागसम्पादन-
प्रभूतयशसाम् ,
आयुर्वेद-
विद्याप्रचारैक-
रक्षणसक्षणानाम् ,
लब्धभारतप्रतिष्ठानेकचिकि—
त्सालयचालनचतुराणाम् , वेद-
शास्त्र—सम्बद्धानेक-निबन्ध-निबन्धृणाम् ,
शीलसौजन्यसदाचारादिविलक्षणगुणगणालङ्कृता-
नाम् , **धर्मप्राणपण्डित—श्रीदत्तशर्ममहाभागानां**
सेवासु सादरं सबहुमानमिदम् पुस्तकरत्नं समर्पयन्नितराम् प्रहृष्यति

भावत्केष्वन्यतमः—

फा० शु० ११, २००९
काशी ।

श्रीराजनारायणशुक्लः

आवश्यकम्

आदरणीय सुरसरस्वतीसमाराधक महानुभाव !

आप लोगों को यह सुविदित है कि "गौतमश्च कणादश्च कपिलश्च पतञ्जलिः । व्यासोऽथ जैमिनिश्चैते षट् शास्त्राणाम् प्रवर्त्तकाः" इस पद्य के अनुसार क्रमशः न्याय, वैशेषिक, साङ्ख्य, योग, वेदान्त तथा मीमांसा शास्त्रों के रचयिता इन ६ महर्षियों ने येन केनापि रूपेण अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति के साधन समस्त विश्व के लिये स्वाभाविक औदार्य से प्रदर्शित किया है।

यद्यपि सभी दर्शनों ने वैदिकमार्ग की सुदृढ़रक्षा का प्रयत्न किया है तथापि अपौरुषेय वेदों के तत्त्वज्ञान में मीमांसाशास्त्र का ही प्रधान स्थान है। बिना इसके किसी प्रकार का भी वैदिककार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। मीमांसादर्शन के आधार पर भट्टकुमारिल-शबरस्वामिप्रभृति-महापण्डितों ने वार्त्तिक, भाष्य आदि का निर्माण कर मीमांसाशास्त्र की परम्परा का सञ्चालन किया। तदनन्तर कृष्णयज्वा, आपोदेवप्रभृति पण्डित भी अपने उत्तम निबन्धों द्वारा शास्त्रप्रचार में पश्चात्पद न रहे। परन्तु वे सभी ग्रन्थ कठिन तथा दीर्घकाय होने से जनसाधारण तक अपनी उपयोगिता का प्रसार नहीं कर पाते थे। अन्य शास्त्रों में अधिगतपाण्डित्य भी व्यक्ति इस शास्त्र में प्रवेश की इच्छा से सरलमार्ग तथा सरलग्रन्थ का अन्वेषण करने लगता था। मीमांसकश्रीलौगाक्षि-भास्कर ने इन्हीं कारणों से इस अर्थसंग्रहनामक लघुपुस्तिका का निर्माण किया। वैयाकरणों की लघुसिद्धान्तकौमुदी, नैयायिकों के तर्कसंग्रह, वेदान्तियों के वेदान्तसार तथा ज्यौतिषियों के शीघ्रबोध की

तरह सरल तथा संक्षिप्त रूप से यह मीमांसाशास्त्र का परिचायक है। इस लघुशरीरनिबन्ध में धर्मविचारशास्त्र की आवश्यकता, धर्म का लक्षण, वेदमात्र में धर्मप्रतिपादकता, वेदों की अपौरुषेयता, विधि, मन्त्र आदि वेदों के पाँच भाग, श्रुति, लिङ्ग, वाक्यादिप्रमाणप्रभृति सभी उपयुक्तपदार्थ आवश्यकशास्त्रार्थ एवं विचारपद्धति से लिखे गये हैं। इसके अध्ययनमात्र से ही मीमांसाशास्त्र का प्रवेशपथ खुल जाता है। इसकी विशेषताओं को ही ध्यान में रखकर उत्तरप्रदेशीयराजकीय-संस्कृतपरीक्षाविभाग, विहारप्रदेशीय संस्कृतशिक्षाविभाग, बङ्गीय राजकीयसंस्कृतविभाग तथा यत्र तत्र अंग्रेजी की भी उच्चकक्षाओं के पाठ्यक्रमों में यह पुस्तक अनिवार्यरूप से रख दी गई है।

अभी तक दार्शनिक परीक्षाओं में ही इसे स्थान मिला था परन्तु आज शास्त्री तथा उपाधिपरीक्षाओं में सर्वसाधारण के लिये यह आवश्यक कर दी गई है। दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों के लिये भले ही कुछ सरल हो परन्तु ज्यौतिष तथा साहित्य आदि शास्त्रों के छात्रों के लिये इसकी कठिनता स्वयंसिद्ध है।

आज तक अंग्रेजी की आलोचनाओं को छोड़कर इस पुस्तक की संस्कृत टीका केवल परमहंस भिक्षु रामेश्वर की कौमुदी ही उपलब्ध है, जिसका कि अतिविस्तृत होने के कारण सर्वसाधारणोपयोग सम्भव नहीं। राजकीयसंस्कृतमहाविद्यालय, काशी में अध्यापन के समय कई दार्शनिक छात्रों ने भी इस पुस्तक पर लिखने के लिये अनेकशः मुझे बाध्य किया। संस्कृतसमाज की निरन्तरप्रेरणा से **मास्टर खेलाड़ीलाल** ऐण्ड सन्स, संस्कृत बुकडिपो के अध्यक्ष **बाबू बैजनाथप्रसाद जी यादव** ने मुझसे परीक्षोपयोगिसंस्करण निकालने की प्रार्थना की। यद्यपि मैं इस

पुस्तक की सुन्दर संस्कृत टीका विद्वानों के समक्ष रखने की चेष्टा में था परन्तु वर्त्तमानमहर्घता के युग में उसे भी अधिक से अधिक संक्षिप्त करना पड़ा। राष्ट्रभाषा हिन्दी के सम्मान तथा उसमें भी कुछ देने की दृष्टि से हिन्दीटीका भी कर दी, जिससे सर्वसाधारण के लाभ में आ सके।

इस प्रकार इसे परीक्षोपयोगी बनाने, अनुवाद करने तथा संशोधन-सम्पादन आदि में यद्यपि मैं अनेककार्यव्यस्तता से कम समय दे पाया हूँ। तथापि प्रकाशकमहोदय ने बड़ी ही सावधानी तथा उदारता से काम लिया है।

अब इसके बाद छात्रों को दूसरी टीका टिप्पणी की खोज करनी पड़े यह सम्भव नहीं। केवल हिन्दी के अनुवाद भले ही निकले हों पर संस्कृतटीकासहित भाषानुवाद लिये यह पुस्तक सर्वप्रथम आपके सामने उपस्थित हो रही है। संस्करण सर्वथा त्रुटिहीन हुआ, मानव-सुलभदुर्बलताओं के रहते यह कैसे कहा जा सकता है। यदि उदार-चरित पाठकों ने हृदय से सम्मान किया तो मैं भी अपना श्रम सफल समझूँगा।

फा० शु० ११, २००९ वि०
शास्त्रार्थमहाविद्यालय,
मीरघाट, काशी।

क्षमार्थी—भवदीयस्सुचिरपरिचितः—
श्रीराजनारायणशुक्लः

❀ ग्रन्थेऽत्र निरूपिताः ❀

❀ इति ❀

श्रीलौगाक्षिभास्करप्रणीतः

अर्थसङ्ग्रहः

'विधि-प्रभा'टीकाद्वयविराजितः ।

वासुदेवं रमाकान्तं नत्वा लौगाक्षिभास्करः ।
कुरुते जैमिनिनये प्रवेशायार्थसंग्रहम् ॥ १ ॥

---

* विधिः *

श्रीगणेशं नमस्कृत्य पितरौ च पुनः पुनः ।
योजये विधिना तावन्मीमांसास्वर्थसंग्रहम् ॥
सरयूपारीणशुक्ल-श्रीवेणीमाधवात्मजः ।
मीमांसुजनमोदाय राजनारायणस्सुखम् ॥

तत्र भगवता जैमिनिना प्रणीतायां मीमांसायाम् प्रविविक्षवोऽल्पेनापि प्राप्तमनोरथास्स्युरिति पण्डितलौगाक्षिभास्करः प्रारिप्सुरर्थसंग्रहनामकं प्रकरणं शिष्टाचारपरम्पराप्राप्तम् मङ्गलं शिष्यशिक्षायै निर्विघ्नसिद्धये च सप्रयोजनं नमस्कारात्मकं निबध्नाति वासुदेवमिति ।

रमायाः पराम्बाया महालक्ष्म्याः कान्तमनन्तकोटिब्रह्माण्डाधिष्ठानं प्रणम्येति यावत् । जैमिनेस्तन्नामकमहर्षेः नयःशास्त्रं पूर्ववेदभागविचारात्मकं द्वादशाध्यायमितन्तत्रेत्यर्थः । अर्थास्तत्प्रतिपाद्याः प्रमाणादिपदार्थास्तेषां संक्षेपेण निरूपणमेव संग्रहः ।

---

* प्रभा *

मैं लौगाक्षिभास्कर लक्ष्मीपति भगवान् वासुदेव को नमस्कार करके मीमांसाशास्त्र में प्रवेश के लिये अर्थसंग्रह नामक निबन्ध को बना रहा हूँ ।

तन्त्रारम्भकसूत्रावतरणम् ।

अथ परमकारुणिको भगवाञ्जैमिनिर्धर्मविवेकाय द्वादशलक्षणीं प्रणिनीय तत्रादौ धर्मजिज्ञासां सूत्रयामास 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इति । अत्र 'अथ' शब्दो वेदाध्ययनानन्तर्यवचनः, 'अतः' शब्दो हि वेदाध्ययनस्य दृष्टार्थत्वं ब्रूते ।

धर्मविचारशास्त्रस्यावश्यकता ।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इत्यध्ययनविधौ तदध्ययनस्यार्थज्ञानरूपदृष्टार्थकत्वेन व्यवस्थापनात् । तथा च वेदाध्ययनानन्तरं यतोऽर्थज्ञानरूपदृष्टार्थकं तदध्ययनमतो हेतोर्धर्मस्य वेदार्थस्य जिज्ञासा कर्तव्येति शेषः ।

धर्मस्य विवेकाय = निश्चयज्ञानाय । धर्मनिर्णयेऽधर्मनिर्णयस्सुतरामिति ह्यम् । द्वादशानां लक्षणानामध्यायानां समाहार इति विग्रहे समासेऽदन्ताद् द्विगोर्ङीप् । प्रणिनीयेतिल्यबन्ततायाः सूत्रशाटकन्यायेन महर्षिणा विचारजातस्य द्वादशभागेषु हृदिकृत्य कृतत्वान्निर्वाहः । प्रणिनायेति लिडन्तप्रयोगे तु न शङ्काकलङ्कपङ्कलेशोऽपि ।

आरम्भसूत्रमुपन्यस्यति—अथात इति । 'अथो अथानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्ये' इतिरीत्या अथशब्दस्यानन्तरार्थकतेह, यद्यपि—

मीमांसाशास्त्र के आरम्भक मीमांसादर्शन के सूत्र का अवतरण ।

वेदाध्ययन के अनन्तर उसके अर्थों पर विचार करना चाहिये इस दृष्टि से परमदयालु मीमांसाशास्त्रकार भगवान् जैमिनि ने धर्मविचार के लिये अपने हृदय में द्वादश (बारह) अध्याय के दर्शन की कल्पनाकर पहला सूत्र लिखा 'अथातो धर्म' इति । अथ शब्द का अर्थ है वेदाध्ययन के अनन्तर, वेदाध्ययन दृष्टफलक है इसी की सूचना अतः शब्द से मिलती है ।

धर्मविचारशास्त्र की आवश्यकता ।

'स्वाध्याय का अध्ययन करना चाहिये' इस अध्ययनविधि में धर्मविचारशास्त्र के अध्ययन के अर्थज्ञानरूप दृष्टार्थक होने से उसकी आवश्यकता सत्य हो जाती है । जिज्ञासा ज्ञानविषयक इच्छा को कहते हैं परन्तु जिज्ञासापद की

जिज्ञासापदस्य विचारे लक्षणा। अतो धर्मविचारशास्त्रमिदमारम्भणीयमिति शास्त्रारम्भसूत्रार्थः।

धर्मलक्षणम्।

अथ को धर्मः? किं तस्य लक्षणमिति चेत्? उच्यते—यागादिरेव धर्मः। तल्लक्षणं च वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्म इति। प्रयो-

---

ओङ्कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥

इतिरीत्या मङ्गलार्थकत्वमपि केचिदभ्युपगच्छन्ति। वेदाध्ययनानन्तरं यतो हि तस्य दृष्टफलम् अर्थज्ञानरूपं सम्पद्यत इति वेदार्थजिज्ञासा समुचितैव।

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा हीच्छाजन्या भवेत् कृतिः।
व्यापारः कृतिजन्यश्च तज्जन्यम् फलमुच्यते॥

इति रीत्या जिज्ञासाया व्यापारागोचरत्वात् कथमभिप्रेतसिद्धिरित्यत आह—जिज्ञासापदस्येति।

धर्मविचारशास्त्रारिप्सायां सजातीयविजातीयव्यवच्छेदो हि लक्षणार्थः 'मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणात्' इति लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वरूपासाधारणत्वस्य जिज्ञासोचितेत्यत आह को धर्म इति। तल्लक्षणमिति। वेदप्रतिपाद्यत्वे

यहाँ पर विचार में लक्षणा है। इस प्रकार धर्मजिज्ञासा का अर्थ हुआ धर्मविचारशास्त्र, कर्त्तव्या का अर्थ है करनी चाहिये। निष्कृष्ट अर्थ यह हुआ कि वेदाध्ययन के अनन्तर अर्थज्ञानरूप दृष्टार्थक होने के कारण धर्म (वेदार्थ) का अध्ययन आवश्यक हो जाता है अतः धर्मविचारशास्त्र का आरम्भ करना चाहिये।

धर्मलक्षण।

प्रश्न—धर्म कौन है? उसका क्या लक्षण है?

उत्तर—याग इत्यादि को ही धर्म कहते हैं। रही बात उसके लक्षण की सो तो वेद से प्रतिपाद्य, प्रयोजनवान् अर्थ को धर्म समझना चाहिये। प्रयोजन में

जनेऽतिव्याप्तिवारणाय प्रयोजनवदिति। भोजनादावतिव्याप्तिवारणाय वेदप्रतिपाद्य इति। अनर्थफलकत्वादनर्थभूते श्येनादावतिव्याप्तिवारणाय अर्थ इति।

वेदस्य धर्मप्रतिपादकत्वम्।

न च 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति सौत्रतल्लक्षणविरोधः चोदनापदस्य विधिरूपवेदैकदेशपरत्वादिति वाच्यम्? तत्रापि चोदनाशब्दस्य वेदमात्रपरत्वात्। वेदस्य सर्वस्य धर्मतात्पर्यवत्त्वेन धर्मप्रतिपादकत्वात्।

इति प्रयोजनवदर्थत्वं धर्मस्य लक्षणमिति। पदकृत्यमाह प्रयोजन इति। वेदप्रतीति। रागादिप्राप्तस्य भोजनादेः स्वतःप्राप्तत्वाद् वेदप्रतिपाद्यता तत्र नास्तीति भावः।
अत एव— अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशारण्यवासिनाम्।
द्वात्रिंशत्तु गृहस्थस्य यथेष्टं ब्रह्मचारिणाम्॥

इत्यादीनां ग्रासनियामकत्वेन व्यवहार उपपद्यते। श्येनादाविति। अयं भावः शत्रुमारणाय 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इति विहितः श्येनयागः क्रियते, स च प्राणवियोगानुकूलहिंसावत्त्वेन भवत्यनर्थफलक इति अनर्थभूते तत्रातिव्याप्तिवारणाय लक्षणे विशेष्यतया अर्थपदोपादानम्।

एवं च वेदबोधितानिष्टसाधनताकत्वमधर्मस्य लक्षणं कल्प्यम्। अनिष्टसाधनता-

---

अतिव्याप्तिवारण करने के लिये प्रयोजनवत् यह विशेषण लगाया। भोजनादि में अतिव्याप्तिवारण के लिये वेदप्रतिपाद्य यह विशेषण लगाया। श्येनयाग आदि (जिनका परिणाम अनर्थ ही है) में अतिव्याप्तिवारण के लिये अर्थ ऐसा विशेषण दिया गया। वेद धर्म के प्रतिपादक हैं।

प्रश्न—सूत्रकार ने धर्मलक्षण के प्रसङ्ग में [चोदनालक्षण अर्थ को धर्म कहते हैं, चोदनापद से विधिरूप वेद के एकदेश का बोध होता है इस प्रकार की] जो व्याख्या की उसका आपके पूर्वोक्त सूत्रार्थ से विरोध हो जायगा?

उत्तर—उस सूत्र में भी चोदनाशब्द का केवल वेद अर्थ है क्योंकि सम्पूर्ण वेद ही धर्मतात्पर्यवान् होने के कारण धर्म के प्रतिपादक होते हैं।

स च यागादिः 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादिवाक्येन स्वर्गमुद्दिश्य पुरुष प्रति विधीयते। तथा हि—'यजेते'त्यत्रास्त्यंशद्वयं यजिधातुः प्रत्ययश्च। प्रत्ययेऽप्यस्त्यंशद्वयं आख्यातत्वं लिङ्त्वं च। तत्राख्यातत्वं दशलकार-साधारणं, लिङ्त्वं पुनर्लिङ्मात्रे। उभाभ्यामप्यंशाभ्यां भावनैवोच्यते।

भावनाविचारः।

भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः। सा द्विधा—शाब्दीभावना, आर्थी भावना चेति।

कत्वमात्रं लक्षणं कृतं चेद् विषभक्षणादावतिव्याप्तिः स्यादतो वेदबोधितत्वरूपं विशेषणम्। तन्मात्रस्य तथात्वे ब्रह्मयागादावतिव्याप्तिरिति विशेष्यस्य अनिष्टसाधनताकत्वस्योपादानम्। प्रयोजनजिज्ञासायामाह स चेति।

ननु वेदेन स्वर्गसाधनतया यागोऽनुष्ठेय इति कथम्? यजेत स्वर्गकाम इत्यादि-श्रुतिषु तादृशार्थप्रदर्शकशब्दादर्शनादित्यत आह तथाहीति। आख्यातत्वं लकारार्थो लकाराश्च लट्लिट्लुट्लृट्लेट्लोट्लङ्लिङ् (विधिलिङ् आशीर्लिङ्) लुङ्-लृङ् इत्याख्या दशेत्याह दशलकारसाधारणमिति। भावनेति। अतएव भावो

'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्य से स्वर्ग के उद्देश्य से पुरुष के प्रति याग आदि का विधान किया जाता है। क्योंकि यजेत इसमें दो अंश होते हैं यज धातु तथा प्रत्यय। प्रत्यय में भी दो अंश आख्यातत्व तथा लिङ्त्व। आख्यातत्व दसो लकारों में साधारणतया रहता है, लिङ्त्वधर्म तो केवल लिङ्लकार में ही रहता है।

दोनों ही अंशों से भावना ही कही जाती है। होनेवाले का होने के अनुकूल होवानेवाले के व्यापारविशेष को भावना कहते हैं। वह दो प्रकार की होती है शाब्दी तथा आर्थी।

तत्र पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दीभावना। सा च लिङंशेनोच्यते। लिङ्श्रवणेऽयं मां प्रवर्तयति मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवानयमिति नियमेन प्रतीतेः। यद्यस्माच्छब्दान्नियमतः प्रतीयते तत्तस्य वाच्यम्। यथा गामानयेत्यस्मिन्वाक्ये गोशब्दस्य गोत्वम्।

स च व्यापारविशेषो लौकिकवाक्ये पुरुषनिष्ठोऽभिप्रायविशेषः।

भावना उत्पादना क्रियेति दीक्षितः। तां विभजते सेति। शाब्दीं लक्षयति तत्रेति।

प्रवृत्तिम् प्रति इष्टसाधनताज्ञानस्य, कृतिसाध्यताज्ञानस्य बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानस्य च कारणता अनुभवसिद्धा। तथाहि यत्र इदम् मदिष्टसाधनम्, इदम् मत्कृतिसाध्यम्, इदं बलवदनिष्टाननुबन्धि चेत्याकारकज्ञानं पुरो भवति तत्रैव प्रवर्त्तते कश्चित्। अतएव जलताडने, सुमेरुसौवर्णशृङ्गाहरणे, सुस्वादुविषसम्पृक्तमिष्टान्नभक्षणे च क्रमेण इष्टसाधनतायाः कृतिसाध्यतायाः प्राणान्तरूपबलवदनिष्टानुबन्धितायाश्च सत्त्वेन तदननुबन्धितायाश्च ज्ञानाभावाल्लोको नैव प्रवर्त्तत इति ध्येयम्। अर्थभावनोत्पत्त्यनुकूलः परिस्पन्दपरिणामविलक्षणः लिङादिशब्दस्य व्यापारविशेषः शाब्दभावनोच्यते। यद् यदिति। तथा च गोत्वं गोशब्दवाच्यम् गोशब्दोच्चारणे तस्य

पुरुष की प्रवृत्ति के अनुकूल तथा भावयिता (कार्य में प्रेरक) के विशेष-व्यापार को शाब्दीभावना कहते हैं। वह लिङ् अंश से कही जाती है। क्योंकि लिङ् लकार की श्रुति (सुनने) से यह प्रतीति होती है कि 'यह मुझे प्रवृत्त कर रहा है' अर्थात् मेरी प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापार वाला यह है, इस अर्थ की नियमतः प्रतीति होती है। जिस शब्द से जिसकी नियमतः प्रतीति होती है वही उसका वाच्य कहा जाता है। जैसे 'गाम् आनय' (गाय को ले आओ) इस वाक्य में गो शब्द का गोत्व।

शाब्दीभावना के भी दो भेद होते हैं लौकिक तथा वैदिक। वह व्यापार-विशेष लौकिकवाक्य में पुरुषनिष्ठ (पुरुष में रहने वाला) अभिप्रायविशेष

वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावाल्लिङादिशब्दनिष्ठ एव। अत एव शाब्दी भावनेति व्यवह्रियते।

सा च भावनांशत्रयमपेक्षते साध्यं साधनमितिकर्तव्यतां च, किं भावयेत् ? केन भावयेत् ? कथं भावयेदिति ? तत्र साध्याकाङ्क्षायां वक्ष्यमाणांशत्रयोपेता आर्थीभावना साध्यत्वेनान्वेति एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेः।

सङ्ख्यादीनामेकप्रत्ययगम्यत्वेऽप्ययोग्यत्वान्न साध्यत्वेनान्वयः। साध-

---

नियमेन प्रतीयमानत्वादित्यनुमाने तात्पर्यम्। वेदस्य अपौरुषेयतया तत्र पुरुषाभावात् स व्यापारविशेषः किमाश्रयः स्यादिति समाशंक्याह वैदिकवाक्ये त्विति।

शब्दनिष्ठतयाऽन्वर्थं नाम तस्या इति स्पष्टयति अत एव शाब्दीति। शब्दभावनाश्रामार्थभावनामुपयोजयति तत्र च साध्याकाङ्क्षेति। ननु एकप्रत्ययजन्यत्वेन समानाभिधानश्रुत्या यथा आर्थभावना साध्यतयाऽन्वेति तथैव सङ्ख्यादेरपि कुतो नेत्यत आह संख्यादीनामिति। पुरुषार्थानुबन्धित्वात् शाब्दभावनाभाव्यतया आर्थभावनायामेव योग्यता नान्यत्रेति भावः।

कहलाता है। वैदिकवाक्य में तो पुरुष रहता नहीं अतः लिङ् आदि शब्दों में ही माना जाता है। अत एव उसे शाब्दी (शब्द में रहने वाली अथवा शब्दजन्य) भावना कहते हैं।

यह शाब्दी भावना भी तीन अंशों की अपेक्षा करती है साध्य, साधन तथा इति कर्तव्यता। अर्थात् क्या भावना करे ? किससे ? किस प्रकार से भावना करे। साध्य कौन है ? इस आकाङ्क्षा में आर्थीभावना (जिसे आगे कहना है जिसके तीन अंश होते हैं) वही साध्य समझी जाती है, क्योंकि एक ही लिङ्रूपप्रत्यय से गम्य होने के कारण समानाभिधानश्रुति है।

यद्यपि उसी एकप्रत्यय से संख्या आदि का भी संवलन होता है तथापि

नाकाङ्क्षायां लिङादिज्ञानं करणत्वेनान्वेति। तस्य च करणत्वं न भावनोत्पादकत्वेन, तत्पूर्वमपि तस्याः शब्दे सत्त्वात्। किन्तु भावनाज्ञापकत्वेन शब्दभावनाभाव्यनिर्वर्त्तकत्वेन वा। इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायामर्थवादज्ञाप्यप्राशस्त्यमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति।

प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार आर्थीभावना। सा चाख्यातत्वांशेनोच्यते आख्यातसामान्यस्य व्यापारवाचित्वात्।

किन्तु भावनेति। यथा वास्यादेः छिदिक्रियाभाव्यद्वैधीभावसम्पादकत्वेन छिदिभावनाकरणत्वन्तथा लिङादिज्ञानस्यापि शब्दभावनाभाव्यार्थभावनासम्पादकतया शाब्दभावनाकरणतेति भावः।

प्रयोजनेच्छेति। येन प्रयुक्तः पुरुषः प्रवर्त्तते तत् प्रयोजनम्, तच्च सुखदुःखावाप्तिहानी, तदर्था हि प्रवृत्तिः सर्वस्य। इह स्वर्गादिप्रयोजनस्य या इच्छा तज्जनितो यः यागादिक्रियाविषयः व्यापारविशेषः पुरुषस्य सा आर्थभावनेत्युच्यते।

अयोग्य होने के कारण साध्यत्वेन उनका अन्वय नहीं। साधन कौन है? इस आकाङ्क्षा में लिङ् आदि का ज्ञान करणतया (साधनरूप से) अन्वित होता है।

रही उसमें करणता सो भावना का उत्पादक होने से नहीं मानी जाती, क्योंकि उसके पूर्वकाल में भी वह शब्द में रहती ही है। अतः भावना के ज्ञापक होने से अथवा शब्दभावना के भाव्य के सम्पादक होने से वह सिद्ध होती है।

अर्थवाद से ज्ञाप्य प्राशस्त्यरूप कर्तव्यविशेष का शब्दभावना में इतिकर्तव्यतात्वेन अन्वय होता है।

आर्थीभावना का लक्षण।

स्वर्गादिरूप जो प्रयोजन (फल) उसकी जो इच्छा उससे उत्पन्न जो यागादिक्रियाविषयक पुरुष का व्यापारविशेष उसे आर्थीभावना कहते हैं। आख्यातसामान्य के व्यापारवाची होने के कारण वह आर्थीभावना आख्यातत्व से कही जाती है।

साप्यंशत्रयमपेक्षते साध्यं साधनमितिकर्तव्यतां च 'किं भावयेत्? केन भावयेत्? कथं भावयेत्' इति। तत्र साध्याकाङ्क्षायां स्वर्गादिफलं साध्यत्वेनान्वेति। साधनाकाङ्क्षायां यागादिः करणत्वेनान्वेति। इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्रयाजाद्यङ्गजातमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति।

अथ को वेद इति चेत्? उच्यते—अपौरुषेयं वाक्यं वेदः। स च विधि-मन्त्र-नामधेय-निषेधार्थवादभेदात् पञ्चविधः।

सापीति। व्यापारविशेषात्मकत्वात् फलादिसापेक्षत्वादार्थभावनापीत्यर्थः।

प्रयाजेति। प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे इति पाणिनीयेन निपातितः।

वेदलक्षणं विवक्षुराह अथ को वेद इति। न पौरुषेयम् अपौरुषेयम्, अपौरुषेयत्वे सति वाक्यत्वं वेदस्य लक्षणम्। विशेष्यमात्रोपादाने महाभारतादावतिव्याप्तिः, विशेषणमात्रोपादाने आत्मादिपदार्थेऽतिव्याप्तिरिति तदुभयोपादानम्। तथा च वेदस्य न कोऽपि कर्त्ता, अत एव 'यस्य निश्श्वसितं वेदाः, इत्यादिश्रुतिभिः भगवत ईश्वरस्य निश्श्वासरूपेण वेदानामाविर्भावः प्रतिपाद्यते। यथापूर्वमकल्पयदित्यादिनापि लक्ष्यत एव। अत एव 'वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्। वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा' इत्यादिना वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकम् वेदाध्ययनत्वात् वर्त्तमान-

---

यह भावना भी क्या? किससे? तथा कैसे भावना करे? इन साध्य, साधन तथा इतिकर्तव्यतारूप तीन अंशों की अपेक्षा करती है।

साध्याकाङ्क्षा में स्वर्ग आदि फल साध्य, साधन की आकांक्षा में याग आदि करण तथा इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा में प्रयाज अनुयाज आदि अङ्गसमूह अन्वित होते हैं।

वेद का लक्षण।

प्रश्न—वेद किसे कहते हैं?

उत्तर—पुरुषनिर्मितवाक्य से भिन्नवाक्य को वेद कहते हैं। वह भी विधि मन्त्र आदि भेद से पाँच प्रकार का होता है।

[१] विधिमीमांसा ।

तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः। स च तादृशप्रयोजनवदर्थविधानेनार्थवान् यादृशं चार्थं प्रमाणान्तरेणाप्राप्तं विधत्ते—यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इति विधिर्मानान्तरेणाप्राप्तं स्वर्गप्रयोजनवद्धोमं विधत्ते। अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेदिति वाक्यार्थबोधः। यत्र कर्म मानान्तरेण प्राप्तं तत्र तदुद्देशेन गुणमात्रं विधत्ते—यथा 'दध्ना जुहोति' इत्यत्र होमस्याग्निहोत्रं जुहुयादित्यनेन प्राप्तत्वाद्धोमोद्देशेन दधिमात्रविधानं

वेदाध्ययनवत् इत्यनुमानं स्फुटीकुर्वता श्लोकवार्त्तिके न्यायकुसुमाञ्जलौ चाभिहितम्। गुरुपाठादनुश्रूयत एव न परं केनापि क्रियते इति 'दृष्टवदानुश्रविकः' इति साङ्ख्यकारिकाव्याख्यानावसरे प्रतिपादयन्ते वाचस्पतिमिश्रमहाशयाः।

तथा च यः कल्पः स कल्पपूर्व इति न्यायेन भगवान् पूर्वकल्पीयं वेदं स्मृत्वा उपदिशतीति न वेदानामपौरुषेयत्वे विवादः।

सामान्यतो वेदभागान् वक्तुमुपक्रमते स चेति। प्रथमं विधिं लक्षयति तत्रेति। अज्ञातस्य (प्रमाणान्तरेण) अर्थस्य यागादेः ज्ञापको बोधकः।

विधि का विचार।

अज्ञात तथा प्रयोजनवान् यागादिरूप अर्थ के बोधक वेदभाग को विधि कहते हैं। प्रमाणान्तर (दूसरे प्रमाण) से अप्राप्त प्रयोजनवान् अर्थ के विधान से ही वह अर्थवान् भी होता है। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' (स्वर्ग-चाहनेवाला व्यक्ति अग्निहोत्र करे) यह विधिवाक्य दूसरे प्रमाण से अप्राप्त स्वर्ग रूपी प्रयोजनवान् होम का विधान करता है। उससे 'अग्निहोत्र होम से स्वर्ग की भावना करे' यह वाक्यार्थ बोध होता है।

जहाँ पर दूसरे प्रमाण से कर्म प्राप्त रहता है वहाँ पर उसके उद्देश से केवल गुण का विधान होता है। जैसे 'दध्ना जुहोति' (दही से हवन करे) यहाँ पर होम तो पूर्ववाक्य 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इससे प्राप्त ही है, केवल होम के उद्देश से दही मात्र का विधान होता है (दही से होम करे)।

दध्ना होमं भावयेदिति। यत्र तूभयमप्राप्तं तत्र विशिष्टं विधत्ते—यथा 'सोमेन यजेत' इत्यत्र सोमयागयोरप्राप्तत्वात्सोमविशिष्टयागविधानम्। सोमपदे मत्वर्थलक्षणया सोमवता यागेनेष्टं भावयेदिति वाक्यार्थबोधः।

न चोभयविधाने वाक्यभेदः, प्रत्येकमुभयस्याविधानात्, किन्तु विशिष्टस्यैव विधानात्।

न च 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इति विधिप्राप्तयागोद्देशेन सोमरूपगुणविधानमेवास्तु सोमेन यागं भावयेदिति किं मत्वर्थलक्षणयेति वाच्यम्? तस्याधिकारविधित्वेनोत्पत्तिविधित्वासम्भवात्।

सोमयागयोरुभयोर्विधाने वाक्यभेदम् परिजिहीर्षति न चेति। उभयविधित्वे

जहाँ पर दोनों ही प्राप्त न हों वहाँ पर विशिष्ट का विधान होता है। जैसे 'सोमेन यजेत' यहाँ पर सोम तथा याग कोई भी प्राप्त नहीं, अतः सोमविशिष्ट-याग का विधान होता है। सोमपद की मत्वर्थलक्षणाद्वारा सोमवान् याग से इष्ट की भावना करे ऐसा वाक्यार्थबोध होता है।

प्रश्न—पूर्वोक्तप्रकार से उभय (दोनों) का विधान मानने पर वाक्यभेद नामक दोष क्यों न हो?

उत्तर—प्रत्येक का पृथक् पृथक् विधान होने पर ही दोष सम्भव है। यहाँ तो विशिष्ट का विधान किया जाता है। अतः वाक्यभेददोष की कल्पना ही कहाँ?

प्रश्न—'ज्योतिष्टोमेन''स्वर्ग चाहने वाला व्यक्ति ज्योतिष्टोम याग करे' इस विधि से प्राप्त याग के उद्देश से सोमरूप गुण का ही विधान हो (सोम से याग करे) मत्वर्थलक्षणा की आवश्यकता ही क्या?

उत्तर—वह अधिकारविधि है अतः उत्पत्तिविधि नहीं बन सकता।

ननु 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्यस्येव ज्योतिष्टोमेनेत्यस्याप्युत्पत्त्यधिकारविधित्वमस्त्विति चेत् ?–न; दृष्टान्ते उत्पत्तिवाक्यान्तराभावेनान्यथानुपपत्त्या तथात्वाश्रयणात्। किंच ज्योतिष्टोमेनेत्यस्योभयविधित्वेऽनेनैव यागस्तस्य फलसम्बन्धोऽपि बोधनीय इति सुदृढो वाक्यभेदः। तद्वरं सोमपदे मत्वर्थलक्षणया विशिष्टविधानम्।

विधिभेदाः।

विधिश्चतुर्विधः—उत्पत्तिविधि–र्विनियोगविधि-रधिकारविधिः-प्रयोगविधिश्चेति।

तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिः उत्पत्तिविधिः। यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति' इति। अत्र च विधौ कर्मणः करणत्वेनान्वयः, अग्निहोत्रहोमेनेष्टं

इष्टापत्तिमाशंक्य परिहरति नन्वित्यादिना।

विधिभेदानाह चतुर्विध इति। तत्र प्रथममुत्पत्तिविधिं लक्षयति कर्मस्वरूपेति। द्रव्यदेवतात्मकस्य रूपस्याश्रवणात् कथमस्योत्पत्तिविधित्वम्? कथं वा

प्रश्न—जैसे 'उद्भिदा…पशु की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति उद्भिन्नामक याग करे' यह उत्पत्तिविधि तथा अधिकारविधि दोनों ही होता है वैसे ही 'ज्योतिष्टोमेन…' यह भी उभयविधि हो जाय, क्या आपत्ति?

उत्तर—'उद्भिदा…' इस दृष्टान्तस्थल में किसी दूसरे उत्पत्तिवाक्य के न रहने के कारण काम न चलने से वैसी कल्पना सम्भव थी। प्रकृत में वह स्थिति कहाँ? साथ ही यह भी विचारणीय है कि 'ज्योतिष्टोमेन…' इस वाक्य को उभयविधि मानने पर इसी से सोमयाग का स्वरूप तथा उसके स्वर्गरूपफल का सम्बन्ध दोनों ही बोध्य होंगे, इस तरह वाक्यभेद अनिवार्य हो जायगा।

अतः सोमपद की मत्वर्थलक्षणा करके विशिष्टविधान ही उत्तम है।

उत्पत्ति–विनियोग–अधिकार तथा प्रयोगविधि भेद से विधि चार प्रकार का होता है।

कर्म के स्वरूपमात्र के बोधक विधि को उत्पत्तिविधि कहते हैं। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस विधि में कर्म करणरूप से अन्वित होता है, अग्निहोत्रहोम से इष्ट की

भावयेदिति।

ननु यागस्य द्वे रूपे द्रव्यं देवता च। तथा च रूपाश्रवणेऽग्निहोत्रं जुहोतीति कथमुत्पत्तिविधिः ? अग्निहोत्रशब्दस्य तु तत्प्रख्यन्यायेन नामधेयत्वादिति चेत् ? न, रूपाश्रवणेऽप्यस्योत्पत्तिविधित्वात्। अन्यथा रूपश्रवणात् 'दध्ना जुहोति' इत्ययमेवोत्पत्तिविधिः स्यात्। तथा च 'अग्निहोत्रं जुहोति' इति वाक्यमनर्थकं स्यात्।

अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधको विधिः विनियोगविधिः। यथा 'दध्ना जुहोति' इति। स हि तृतीयया प्रतिपन्नाङ्गभावस्य दध्नो होमसम्बन्धं विधत्ते दध्ना

न नामधेयतेति समाशङ्क्य व्यवस्थापयति ननु यागस्येति। रूपश्रवणमात्रस्योत्पत्तिविधित्वप्रयोजकत्वेऽव्याप्तिमुक्त्वाऽतिव्याप्तिमपि दर्शयति अन्यथेति। अनर्थकमिति। अग्निरूपगुणविधानं तु नास्य प्रयोजनम्, तस्य 'अग्निर्ज्योतिः स्वाहा' इत्यादिनापि सिद्धत्वादिति भावः।

विनियोगविधिं लक्षयति अङ्गेति। अङ्गानाम् (द्रव्यदेवताद्यात्मकानाम्) प्रधानैः सह यस्सम्बन्धः शेषत्वलक्षणस्तस्य बोधको विधिरित्यर्थः। उदाहरति यथेति। अत्राङ्गं दधि प्रधानं होमः। सर्वत्र गुणविधौ धात्वर्थस्य न साध्यत्वे-

---

भावना करे यह वाक्यार्थबोध होता है।

प्रश्न—याग के द्रव्य तथा देवता ये दो रूप होते हैं। 'अग्निहोत्रं जुहोति' यहाँ पर किसी भी रूप का श्रवण नहीं; अपि तु अग्निहोत्र यह याग की विशेष-संज्ञा है, पुनः इसमें उत्पत्तिविधित्व कैसे ?

उत्तर— रूपकी श्रुति न होने पर भी इसे उत्पत्तिविधि ही मानते हैं, अन्यथा रूप की श्रुति होने से 'दध्ना जुहोति' यही उत्पत्तिविधि होगा तथा 'अग्निहोत्र...' यह वाक्य ही अनर्थक हो जायगा।

अङ्ग तथा प्रधान के सम्बन्ध के बोधक विधि को विनियोगविधि कहते हैं। जैसे 'दध्ना जुहोति' यहाँ पर दधिशब्द से तृतीया-एकवचन में दध्ना रूप

होमं भावयेदिति ।

गुणविधौ च धात्वर्थस्य साध्यत्वेनान्वयः । क्वचिदाश्रयत्वेनापि यथा 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इत्यत्र दधिकरणत्वेनेन्द्रियं भावयेत् । तच्च किं निष्ठमित्याकाङ्क्षायां सन्निधिप्राप्तहोम आश्रयत्वेनान्वेति ।

विनियोगविधिसहकारिप्रमाणनिरूपणम् ।

एतस्य विधेः सहकारिभूतानि षट्प्रमाणानि—श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यारूपाणि । एतत्सहकृतेनानेन विधिनाङ्गत्वं परोद्देश-प्रवृत्तकृतिसाध्यत्वरूपं पारार्थ्यापरपर्यायं ज्ञाप्यते ।

तत्र निरपेक्षो रवः श्रुतिः । सा च त्रिविधा—विधात्री, अभिधात्री,

---

नान्वय इत्याह क्वचिदिति । नायं विनियोगविधिरसहकृतः क्षमते स्वकार्यसाधनेऽपि तु श्रुत्यादिषट्प्रमाणसहकृत इत्याह एतस्येति । विनियोगविधिसम्पादिते विनियोगे च प्रमाणत्वादेव षण्णामेषां तत्सहकारित्वमिति ।

श्रुतिं व्याचष्टे तत्रेति । स्वसम्पाद्यबोधे प्रमाणान्तरनिरपेक्षशब्द एव श्रुतिरिति भावः । तद्भेदानाह सेति । विधात्री = विधानसम्पादिका, अभिधात्री = अभिधान-

---

बनता है, होम प्रधान है तथा तृतीयान्त दधि उसका अङ्ग है, इस वाक्य द्वारा दधि का होमसम्बन्ध बतलाया जा रहा है, अतः यह विनियोगविधि का उदाहरण बना ।

गुणविधि में धात्वर्थ का अन्वय साध्यत्वेन (साध्यरूप से) होता है । कहीं पर आश्रयत्वेन (आश्रयरूप से भी) अन्वय होता है, जैसे 'दध्ना इन्द्रिय-काम···' यहाँ पर दधिकरणत्वेन इन्द्रिय की भावना करे, वह भी किसमें ? इस आकाङ्क्षा में सन्निहितहोम आश्रयतया (आश्रय रूप से) अन्वित होता है ।

इस विनियोगविधि के सहकारी ६ प्रमाण होते हैं—श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या । इन प्रमाणों से सहकृत यह विनियोगविधि दूसरे के उद्देश से प्रवृत्त जो पुरुष तदीयकृतिसाध्यत्वरूप अङ्गत्व का बोधन करता है ।

अपने द्वारा सम्पादनीयबोध में दूसरे प्रमाण की अपेक्षा न रखनेवाले शब्द को श्रुति कहते हैं । वह तीन प्रकार की होती है । विधात्री, अभिधात्री

विनियोक्त्री च। तत्राद्या लिङाद्यात्मिका। द्वितीया व्रीह्यादिश्रुतिः। यस्य च शब्दस्य श्रवणादेव सम्बन्धः प्रतीयते सा विनियोक्त्री।

साऽपि त्रिविधा--विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा, एकपदरूपा चेति। तत्र विभक्तिश्रुत्या अङ्गत्वं यथा—'व्रीहिभिर्यजेत' इति तृतीयाश्रुत्या व्रीहीणां यागाङ्गत्वम्। तदपि पुरोडाशप्रकृतितया। यथा पशोर्हृदयादि-रूपहविःप्रकृतितया यागाङ्गत्वम्।

तृतीयारूपा

'अरुणया एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति' इत्यस्मिन्वाक्ये आरुण्य-स्यापि तृतीयाश्रुत्या क्रयाङ्गत्वम्। तदपि गोरूपद्रव्यपरिच्छेदद्वारा न तु साक्षात्, अमूर्तत्वात्।

सम्पादिका, विनियोक्त्री=विनियोगसम्पादिका। सम्बन्धः विनियोज्यविनियोजकभावः। विनियोक्त्रीं विभजते सापीति। आद्यामुदाहरति तत्रेति। व्रीहिपुरोडाशयो-र्जन्यजनकभावः। पूर्वत्र 'व्रीहिभिर्यजेत' इत्यत्र तृतीयाबहुवचनश्रुत्या अङ्गत्वम् प्रतिपाद्य तृतीयैकवचनश्रुत्याऽङ्गत्वमुदाहरति अरुणयेति। तृतीयाविभक्तिश्रुत्या

तथा विनियोक्त्री। पहली लिङ् आदि रूप, दूसरी व्रीहि आदि की श्रुति तथा जिस शब्द के श्रवणमात्र से सम्बन्ध प्रतीत हो उसे विनियोक्त्री नाम की तीसरी श्रुति कहते हैं।

विनियोक्त्री भी तीन प्रकार की होती है—विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा तथा एकपदरूपा।

'व्रीहिभिर्यजेत' यहाँ पर तृतीयाविभक्ति की श्रुति से व्रीहि में यागाङ्गता होती है। वह भी व्रीहि के पुरोडाशप्रकृति होने से। जैसे हृदय इत्यादिस्वरूप हवि की प्रकृति होने से पशु यागाङ्ग होता है।

इसी का दूसरा उदाहरण—'अरुणया एकहायन्या…' इस श्रुति में तृतीया-विभक्ति की श्रुति से आरुण्य (लालिमा) भी क्रय (खरीदने) का अङ्ग हो जाता है, वह भी गोरूप जो द्रव्य उसके परिच्छेद के द्वारा, साक्षात् नहीं, क्योंकि वह मूर्त नहीं।

द्वितीयारूपा

'व्रीहीन्प्रोक्षति' इति प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वं द्वितीयाश्रुत्या। तच्च प्रोक्षणं न व्रीहिस्वरूपार्थम् तस्य तेन विनाप्युपपत्तेः किंत्वपूर्वसाधनत्वप्रयुक्तम्। व्रीहीनप्रोक्ष्य यागानुष्ठानेऽपूर्वानुपपत्तेः। एवं सर्वेष्वपूर्वप्रयुक्तमङ्गत्वं बोध्यम्।

द्वितीयारूपा

एवम् 'इमामगृभ्णन्रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्त' इत्यत्र द्वितीयाश्रुत्या मन्त्रस्याश्वाभिधान्यङ्गत्वम्।

सप्तमीरूपा

'यदाहवनीये जुहोति' इत्याहवनीयस्य होमाङ्गत्वं सप्तमीश्रुत्या।

विनियोक्त्रीमुदाहृत्य द्वितीयारूपान्तामुदाजिहीर्षति व्रीहीनिति। यागसम्पत्त्यनन्तरमेकमपूर्वमुत्पद्यते तत एव फलसम्भव इति सिद्धान्तः। तस्यैवापूर्वस्य अदृष्टादिकमपि संज्ञान्तरम्। अत एवादृष्टसाधनप्रवृत्तैः श्रीमदुदयनाचार्यैरुक्तम्—

चिरध्वस्तम् फलायालं न कर्मातिशयं विना। इति।

द्वितीयाया एव उदाहरणान्तरमाह एवमिति। सप्तमीरूपां विनियोक्त्रीं श्रुतिमुदाहरति यदाहवनीये इति।

द्वितीयाविभक्तिरूप विनियोक्त्री का उदाहरण—

'व्रीहीन् प्रोक्षति' इस श्रुति में प्रोक्षण व्रीहिका अङ्ग होता है, द्वितीयाविभक्ति की श्रुति होने से। वह प्रोक्षण भी व्रीहि के स्वरूप के लिये नहीं, क्योंकि वह तो बिना प्रोक्षण के भी सम्पन्न है। अतः वह अपूर्वसाधन के लिये ही है। व्रीहि का प्रोक्षण किये विना उस याग में अपूर्व की उत्पत्ति नहीं होगी। इसी प्रकार अवघात आदि सभी अङ्गों में अपूर्वसाधनता के लिए ही अङ्गत्व बनता है।

इसी का दूसरा उदाहरण—'इमाम् अगृभ्णन्…' इस में द्वितीया की श्रुति से मन्त्र में अश्वाभिधानी की अङ्गता सिद्ध होती है।

सप्तमीविभक्ति वाली विनियोक्त्री का उदाहरण—

'यदाहवनीये…' इस में सप्तमी की श्रुति से आहवनीय में होम की अङ्गता

एवमन्योऽपि विभक्तिश्रुत्या विनियोगो ज्ञेयः ।

'पशुना यजेत' इत्यत्रैकत्वपुंस्त्वयोः समानाभिधानश्रुत्या कारकाङ्गत्वम् । यजेतेत्याख्याताभिहितसंख्यायां भावनाङ्गत्वं समानाभिधानश्रुतेरेव पदश्रुत्या च यागाङ्गत्वम् ।

न चामूर्तायास्तस्याः कथं भावनाङ्गत्वमिति वाच्यम् ?, कर्तृपरिच्छेद-द्वारा तदुपपत्तेः । कर्ता चाक्षेपलभ्यः ।

इदानीमेकाभिधानरूपामेकपदरूपां च विनियोक्त्रीं श्रुतिमुदाहरति पशुनेति । अत्र पशुनेति एकपदश्रुत्या एकत्वपुंस्त्वयोः पश्वात्मकद्रव्याङ्गता, एकाभिधानश्रुत्या च कारकाङ्गतेति । एवं यजेत इत्यत्र एकाभिधानश्रुत्या आख्याताभिहितसङ्ख्याया भावनाङ्गत्वम्, एकपदश्रुत्या च यागाङ्गतेति स्पष्टार्थः ।

ननु अङ्गत्वम् मूर्त्तपदार्थस्यैवानुभूतचरम् सङ्ख्या च गुण इत्यमूर्त्ता सा कथमङ्गतां भजत इत्याशङ्क्य समाधातुमिच्छुराह न चेति । लोके व्यापारविशेषस्य निराश्रयस्यादर्शनात् व्यापारविशेषरूपभावनया कश्चित् चेतनः स्वाश्रयः कर्त्ताऽऽक्षिप्यते, तथा हि—भावना आश्रयवती गुणत्वात् व्यापारविशेषत्वाद् वा । इत्येवं श्रुतिप्रमाणस्य विनियोगविधिसहकारिणः स्वरूपं सोदाहरणम् प्रदर्श्य तस्या लिङ्गाद्य-

---

प्राप्त होती है ।

इसी प्रकार अन्य विनियोग की भी कल्पना विभक्तिश्रुति से करनी चाहिये ।

समानाभिधानरूपा तथा एकपदरूपा विनियोक्त्री का उदाहरण—'पशुना यजेत' यहाँ पर एकत्व तथा पुंस्त्व दोनों में ही समानाभिधानश्रुति से कारक की अङ्गता होती है । यजेत यहाँ पर आख्यात से उक्त जो संख्या वह समानाभिधानश्रुति से भावना का अङ्ग तथा पदश्रुति से याग का अङ्ग होती है ।

प्रश्न—संख्या के गुणरूप होने से अमूर्त्त होने के कारण भावना की अङ्गता कैसे ?

उत्तर—अर्थभावनारूप व्यापारवान् जो कर्त्ता उस के परिच्छेदद्वारा संख्या में भावनाङ्गता बन जायगी । वाक्य में आक्षेप से कर्त्ता आयेगा, आख्यात

भावनाया आख्यातवाच्यत्वम् ।

आख्यातेन हि भावनोच्यते। सा च कर्तारं विनाऽनुपपन्नेति तमाक्षिपति। सेयं श्रुतिर्लिङ्गादिभ्यः प्रबला। लिङ्गादिषु न प्रत्यक्षो विनियोजकः शब्दोऽस्ति किन्तु कल्प्यः। यावच्च तैर्विनियोजकशब्दः कल्प्यते तावत्प्रत्यक्षया श्रुत्या विनियोगस्य कृतत्वेन तेषां कल्पकत्वशक्तेर्व्याहतत्वात्। अत एवैन्द्र्या लिङ्गान्नेन्द्रोपस्थानार्थत्वम्। किन्तु 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इत्यत्र गार्हपत्यमिति द्वितीयाश्रुत्या गार्हपत्योपस्थानार्थत्वम्।

शब्दसामर्थ्यं लिङ्गम्। यथाऽऽहुः—'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते' इति सामर्थ्यं रूढिरेव। तेन समाख्यातो नाभेदः। यौगिक-

---

परपञ्चप्रमाणेभ्यः प्राबल्यं स्पष्टयितुमाह सेयमिति। युक्तिमाह लिङ्गादिषु इति। अत्रांश उदाहरणमाह अत एवेति। श्रुतेः लिङ्गाद्यपेक्षया प्राबल्यं सूत्रकृदप्याह 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' इति।

एवं श्रुतिं निरूप्य प्रमाणान्तरं लिङ्गं व्याचष्टे शब्देति। अत्रांशेऽभियुक्तोक्तिमाह सामर्थ्यमिति। सूत्रक्रमानुसारेण वाक्यादिभ्यो लिङ्गस्य प्रबलतां स्पष्टयति

ही भावना का वाचक होता है। वह भी कर्त्ता के विना नहीं बन सकती अतः भावना से ही कर्ता का आक्षेप हो जाता है। यह श्रुतिनामकप्रमाण लिङ्ग आदि प्रमाणों से प्रबल होता है। लिङ्ग आदि में विनियोग करने वाला प्रत्यक्ष शब्द नहीं रहता किन्तु कल्पनीय होता है, जब तक उन प्रमाणों से विनियोजक शब्द की कल्पना की जाती हैं तब तक प्रत्यक्षश्रुति के द्वारा विनियोग हो चुकता है, इस तरह कल्पकत्वशक्ति का व्याघात हो जाता है। अत एव इन्द्रप्रकाशनसमर्थऋक् लिङ्गप्रमाण से इन्द्रोपस्थानार्थक नहीं होती किन्तु 'ऐन्द्रया गार्ह…" इस वाक्य में गार्हपत्यम् इस द्वितीया की श्रुति से गार्हपत्योपस्थानार्थक ही होती है।

शब्द के सामर्थ्य को लिङ्ग कहते हैं। जैसे कहा है 'सभी शब्दों के सामर्थ्य को लिङ्ग कहते हैं' इत्यादि। रूढिशक्ति को ही सामर्थ्य कहते हैं। यौगिक-

शब्दसमाख्यातो रूढ्यात्मकलिङ्गशब्दस्य भिन्नत्वात्। तेन 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इति मन्त्रस्य कुशलवनाङ्गत्वं न तूलपादिलवनाङ्गत्वम्; तस्य बर्हिर्दामीति लिङ्गात्तल्लवनं प्रकाशयितुं समर्थत्वात्। एवमन्यत्रापि लिङ्गाद्विनियोगो द्रष्टव्यः। तदिदं लिङ्गं वाक्यादिभ्यो बलवत्। अत एव 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' इति मन्त्रस्य पुरोडाशसदनकरणाङ्गत्वं सदनं कृणोमीति लिङ्गात्, न तु वाक्यात्।

समभिव्याहारो वाक्यम्। समभिव्याहारश्च साध्यत्वादिवाचकद्वितीयाद्यभावेऽपि। वस्तुतः शेषशेषिवाचकपदयोः सहोच्चारणम्। यथा 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापँ श्लोकं शृणोति'। अत्र पर्णताजुह्वोः समभिव्याहारादेव पर्णताया जुह्वङ्गत्वम्।

तदिदमिति। उदाहरति अत एव स्योनमिति।

तृतीयं प्रमाणं वाक्यं लक्षयति समभिव्याहार इति। उपसर्गचतुष्टयीसंवलितः विलक्षण एवायं शब्द इति। चोदकम्=प्रेरकम् निर्देशकमिति, तच्च 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इति सिद्धान्तवाक्यमतिदेशभूतम्।

शब्दरूपसमाख्यासे रूढ्यात्मक लिङ्गशब्द का भेद स्वतः सिद्ध है। अतएव 'बर्हिर्देव···' यह मन्त्र कुशलवन (कुशच्छेदन) का अङ्ग होता है उलपादिलवन का नहीं, क्योंकि बर्हिर्दामि इस लिङ्ग से लवन के प्रकाशन में वह समर्थ है।

इसी प्रकार अन्यस्थलों में भी लिङ्ग से विनियोग का ज्ञान करना चाहिये। वह यहलिङ्ग प्रमाण वाक्य आदि से बली होता है। अतएव 'स्योनं ते···' यह मन्त्र पुरोडाशसदनकरण का अङ्ग बनता है 'सदनं कृणोमि' इस लिङ्ग के बल से, वाक्य से नहीं।

समभिव्याहार को वाक्य कहते हैं। वह भी साध्यत्व आदि की वाचिका द्वितीयाआदिविभक्ति के अभाव में भी रहता है। वस्तुतः शेष तथा शेषी के वाचक पदों के साथ उच्चारण को ही समभिव्याहार कहते हैं। जैसे 'यस्य पर्ण···' इस मन्त्र में पर्णता तथा जुहू दोनों के समभिव्याहार से ही पर्णता जुहू का अङ्ग बनती है।

न चानर्थक्यम्, अन्यथापि जुह्वाः सिद्धत्वादिति वाच्यम् ? जुहूशब्देन तत्साध्यापूर्वलक्षणात् । तथा च वाक्यार्थः पर्णतयावत्तहविर्धारणद्वारा जुह्वपूर्वं भावयेदिति । एवं च पर्णतया यदि जुहूः क्रियते तदैव तत्साध्यमपूर्वं भवति, नान्यथेति गम्यत इति न पर्णतायां वैयर्थ्यम् । अवत्तहविर्धारणद्वारेति चावश्यं वक्तव्यम्; अन्यथा स्रुवादिष्वपि पर्णतापत्तेः, सेयं पर्णता अनारभ्याधीतापि सर्वप्रकृतिष्वेवान्वेति न विकृतिषु । तत्र चोदकेनापि तत्प्राप्तिसंभवात्पौनरुक्त्यापत्तेः ।

यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः, यथा—दर्शपूर्णमासादिः; तत्प्रक-

---

प्रकृतिं सोदाहरणां लक्षयति यत्रेति । का विकृतिरित्याकाङ्क्षायां सोदाहरणां

प्रश्न—दूसरे काष्ठ से ही जुहू बन जाय तथा पर्णता क्यों न व्यर्थ मान ली जाय ?

उत्तर—जुहूशब्द से जुहूसाध्य अपूर्व लक्षित होता है, अर्थात् पर्णता से जुहू बनाई जाने पर ही अपूर्व की उत्पत्ति होगी, प्रकारान्तर से नहीं, अतः व्यर्थता की शङ्का ही नहीं । अत एव 'पर्णता से अवत्तहवि के धारण के द्वारा जुहू से साध्य अपूर्व की भावना करे' ऐसा वाक्यार्थबोध होता है । अवत्तहविर्धारणद्वारा यह अवश्य कहना होगा अन्यथा स्रुक्स्रुवा आदि में भी पर्णतापत्ति हो जायगी । अनारभ्यविधि सामान्यविधि होती है इस नियम से यह पर्णता भी सब प्रकृतियों में अन्वित होती है, विकृतियों में नहीं । क्योंकि 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या प्रकृति की तरह विकृति करनी चाहिये, इस चोदक (प्रेरक) अतिदेशवाक्य से ही विकृति में पर्णता की प्राप्ति सम्भव हो जाती है । यदि पूर्वप्रकार से विकृति में भी अन्वय करेंगे तो पुनरुक्तता दोष हो जायगा । इस तरह 'प्रकृतौ वाऽद्विरुक्तत्वात्, इस न्याय का विरोध भी नहीं होता ।

जहाँ पर सम्पूर्ण अङ्गों का उपदेश हो उसे प्रकृति कहते हैं । जैसे दर्श, पूर्णमास आदि, क्योंकि उनके प्रकरण में सभी अङ्गों का पाठ है ।

रणे सर्वाङ्गपाठात् । यत्र न सर्वाङ्गोपदेशः सा विकृतिः । यथा—सौर्यादिः । तत्र कतिपयाङ्गानामतिदेशेन प्राप्तत्वात् । अनारभ्यविधिः सामान्यविधिः । तदिदं वाक्यं प्रकरणादिभ्यो बलवत् । अत एव 'इन्द्राग्नी इदं हविः' इत्यादेरेकवाक्यत्वाद्दर्शाङ्गत्वं, न तु प्रकरणाद्दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम् ।

उभयाकाङ्क्षा प्रकरणम् । यथा प्रयाजादिषु 'समिधो यजति' इत्यादिवाक्ये फलविशेषस्यानिर्देशात्समिद्यागेन भावयेदिति बोधानन्तरं किमित्युपकार्याकाङ्क्षा । दर्शपूर्णमासवाक्येऽपि 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' इति बोधानन्तरं कथमित्युपकारकाकाङ्क्षा । इत्थं चोभयाकाङ्क्षया प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम् ।

तच्च प्रकरणं द्विविधम्—महाप्रकरणमवान्तरप्रकरणं चेति ।

तां लक्षयतिं यत्र नेति । पूर्वक्रमानुसारम् प्रकरणादिभ्यो वाक्यस्य प्राबल्यं व्यवस्थापयति तदिदमिति ।

चतुर्थम् प्रकरणनामकम् प्रमाणं सोदाहरणं लक्षयति उभयेति । प्रकरणबलेनैव प्रयाजादीनाम् दर्शपूर्णमासाङ्गतामुभयाकाङ्क्षास्फोरणेन द्रढयति यथेति । प्रकरणभेदावाह तच्चेति ।

जहाँ पर सम्पूर्ण अङ्गों का उपदेश न हो उसे विकृति कहते हैं, जैसे सौर्य आदि । उनमें कई अङ्ग अतिदेश से प्राप्त होते हैं सबका उपदेश नहीं ।

इस प्रकार यह वाक्य प्रकरण आदिसे बली होता है । अत एव 'इन्द्रा…' इत्यादि के एकवाक्य होने से दर्शकी अङ्गता सिद्ध होती है, प्रकरण से दर्शपूर्णमास की अङ्गता नहीं ।

उपकार्य तथा उपकारक दोनों की परस्पर आकाङ्क्षा को प्रकरण कहते हैं । जैसे प्रयाज इत्यादि में फलविशेष का निर्देश न रहने से 'समिधो यजति' इस वाक्य से 'समिद्याग से भावना करे' ऐसा बोध होने पर 'क्या' इस उपकार्य की आकाङ्क्षा होती है । दर्शपूर्णमासवाक्य में भी 'दर्श तथा पूर्णमास से स्वर्ग की भावना करे' ऐसे बोध के अनन्तर 'कैसे' इस उपकारक की आकांङ्क्षा होती है । इस प्रकार उभयाकाङ्क्षा से प्रयाज आदि में दर्शपूर्णमास की अङ्गता सिद्ध होती है।

महाप्रकरण तथा अवान्तरप्रकरणभेद से प्रकरण दो प्रकार का होता है ।

तत्र मुख्यभावनासम्बन्धिप्रकरणं महाप्रकरणम्। तेन च प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम्। एतच्च प्रकृतावेव, उभयाकाङ्क्षायाः सम्भवात्, न तु विकृतौ। तत्र 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या' इत्यतिदेशेन कथम्भावाकाङ्क्षाया उपशमेनापूर्वाङ्गानामप्युभयाकाङ्क्षया विनियोगासम्भवात्। तस्मादपूर्वाङ्गानां स्थानादेव विकृत्यर्थत्वमिति।

अङ्गभावनासम्बन्धिप्रकरणमवान्तरप्रकरणम्। तेन चाभिक्रमणादीनां प्रयाजाद्यङ्गत्वम्। तच्च सन्दंशेनैव ज्ञायते। तदभावे चाविशेषात्सर्वेषां फलभावनाकथम्भावेन ग्रहणप्रसङ्गेन प्रधानाङ्गत्वापत्तेः।

एकाङ्गानुवादेन विधीयमानयोरङ्गयोरन्तराले विहितत्वं सन्दंशः।

महाप्रकरणं लक्षयति तत्र मुख्येति। तत्सम्पाद्यमाह प्रयाजादीनामिति। द्वितीयं प्रकरणभेदम् अवान्तरप्रकरणनामकं लक्षयति अङ्गभावनेति। तत्साध्यमाह तेनेति। सन्दंशास्वीकार आपत्तिमाह तदभाव इति। अवान्तरप्रकरणसहकारिणं सन्दंशं लक्षयति एकाङ्गेति।

फलभावनासम्बन्धी प्रकरण को महाप्रकरण कहते हैं। उसी से प्रयाज आदि में दर्शपूर्णमास की अङ्गता बनती है। यह महाप्रकरण भी उभयाकाङ्क्षा के मिलने से प्रकृति में ही बनता है, विकृति में नहीं, क्योंकि उसमें तो 'प्रकृतिवत्' इस अतिदेश से कथम्भाव (उपकारक) की आकाङ्क्षा शान्त होने से अपूर्वअङ्गों का भी उभयाकाङ्क्षा से विनियोग सम्भव नहीं। तस्मात् अपूर्व अङ्गों का स्थान से ही विकृतिविशेषत्व सिद्ध होता है।

अङ्गभावनासम्बन्धी प्रकरण को अवान्तरप्रकरण कहते हैं। इसी से अतिक्रमण आदि में प्रयाज आदि की अङ्गता सिद्ध होती है। वह सन्दंश से ही ज्ञात होता है सन्दंश के अभाव में प्रकरण की अविशेषता के कारण प्रयाज-अभिक्रमण आदि सभी में इतिकर्तव्यतारूप से दर्शादिप्रधान की अङ्गता प्राप्त हो जायगी।

एक अङ्ग के अनुवाद से विधीयमान, दो अङ्गों के बीच में विहित को

यथा—अभिक्रमणे। तद् हि 'समानयते जुह्वाम् उपभृतस्तेजो वा' इत्यादिना प्रयाजानुवादेन किञ्चिदङ्गं विधाय विधीयते 'यस्यैवंविदुषः प्रयाजा इज्यन्ते प्रैभ्यो लोकेभ्यो भ्रातृव्यान्तुदतेऽभिक्रामञ्जुहोत्यभिजित्यै' इति, तदनन्तरं 'यो वै प्रयाजानां मिथुनं वेद' इत्यादिना किञ्चिदङ्गं विधीयते। अतः प्रयाजाङ्गमध्ये विहितमभिक्रमणं तदङ्गम्।

प्रयाजैरपूर्वं कृत्वा यागोपकारं भावयेदिति ज्ञाते कथमेभिरपूर्वं कर्तव्यमिति कथम्भावाकाङ्क्षायाः सत्त्वात्। सा च सन्दंशपठितैरभिक्रमणादिभिः शाम्यति। न चाङ्गभावनायाः कथम्भावाकाङ्क्षाऽभावः, भावना-

---

स्थलं निर्दिशति यथेति। भ्रातृव्यानिति प्रकृतिप्रत्ययसमुदायेन शत्रौ वाच्येऽपत्यैर्थे 'व्यन् सपत्ने' इति पाणिनीयेन भ्रातृशब्दाद् व्यनि सिध्यति। फलितमाह अत इति। कथम्भावाकाङ्क्षां साधयति प्रयाजैरपूर्वमिति। सन्दंशप्रयोजनप्रदर्शनमुखेनैव—परप्रकरणस्थानामङ्गे इत्यादिभिस्त्रिभिः।

ज्ञाते पुनश्च तैरेव सन्दंशेन तदिष्यते" ॥

इत्यभियुक्तोक्तिः। भावनासामान्येनेति। अत्र समानयोः समानानां (समानाम्) भावः सामान्यं साम्यमिति यावत्। भावनात्वेन तत्रापि भावना समानैवेति हृद्यम्। तथा च प्रयाजाद्यङ्गभावना कथम्भावसाकाङ्क्षा भावनात्वात् दर्शभावनावत् इति भवत्यनुमानम्।

सन्दंश कहते हैं, जैसे अभिक्रमण। क्योंकि वह 'समानयते…' इत्यादि मन्त्र से प्रयाज के अनुवादद्वारा पात्र से जुहू में प्रयाज के लिये घृतानयनरूप अङ्ग का विधान करके विधीयमान होता है, जैसे 'यस्यैवं विदुषः प्रयाजा…' इत्यादि। उसके बाद 'यो वै प्रयाजानाम्…' इत्यादि से किसी अङ्ग का विधान होता है। अतः प्रयजाङ्ग के मध्य में विहित जो अभिक्रमण वह उसका अङ्ग होता है।

प्रश्न—प्रयाजों की इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षा न होने से सन्दंश से भी अभिक्रमणाङ्गतया अन्वय कैसे होगा? क्योंकि साकाङ्क्षकी ही गुण में खोज होती है?

उत्तर—प्रयाजों से अपूर्व उत्पन्न करके यागोपकार की भावना करे ऐसा ज्ञान हो जाने पर 'इनसे कैसे अपूर्व बनावे' यह कथम्भाव की आकाङ्क्षा (इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षा) अवश्य उत्पन्न हो जाती है। वह सन्दंशपठित अभि-

सामान्येन तत्रापि तत्संभवात्। तदिदं प्रकरणं क्रियाया एव साक्षाद्वि-नियोजकं द्रव्यगुणयोस्तु तद्द्वारा। तथा हि—'यजेत स्वर्गकामः' इत्यत्र फलभावनायां कथम्भावाकाङ्क्षायां संनिधिपठिताऽश्रूयमाणफलकं क्रिया-जातमुपकार्याकाङ्क्षयेतिकर्तव्यतात्वेनान्वेति। क्रियाया एव लोके कथ-म्भावाकाङ्क्षायामन्वयदर्शनात्। न हि कुठारेण छिन्द्यादित्यत्र कथम्भावा-काङ्क्षायामुच्चार्यमाणोऽपि हस्तोऽन्वेति, किन्तु हस्तेनोद्यम्य निपात्येति उद्य-मननिपातने एव, हस्तश्च तद्द्वारैवान्वेतीति सार्वजनीनमेतत्। इदं च स्थानादिभ्यो बलवत्। अत एवाक्षैर्दीव्यति राजन्यं जिनातीति देवना-

---

अत्रांशे लोकदृष्टान्तमुपस्थापयितुं चेष्टते क्रियाया एवेति। सूत्रक्रमानुसारं शेषेभ्यः परेभ्यः स्थानादिभ्योऽस्य बलवत्तां व्यवस्थापयति इदं चेति। फलम् बाध्यबाधकभावमाह अत एवेति।

क्रमण आदि से शान्त होती है।

प्रश्न—प्रयाजभावना की अङ्गभावनात्वेन कथम्भावाकाङ्क्षा तो है नहीं तो प्रयाजभावना के कथम्भाव से अभिक्रमण का ग्रहण कैसे होगा ?

उत्तर—जैसे दर्शादिभावना भावना होने के कारण कथम्भावसाकाङ्क्ष होती है वैसे ही प्रयाजादि–अङ्गभावना भी कथम्भावसाकाङ्क्ष हो जायगी। भावनासा-मान्येन–समानयोर्भावः सामान्यम् समानता–अर्थात् भावनात्वेन भावनायें समान हैं।

वह यह प्रकरण क्रिया का साक्षाद् विनियोग करता है, द्रव्यगुण का क्रिया के द्वारा। तथाहि 'यजेत…' यहाँ पर फलभावना में कथम्भाव (इतिकर्त्तव्यता) की आकाङ्क्षा होने पर पास में पढ़े हुये साथ ही जिसका कोई फल श्रुत नहीं ऐसा क्रियासमूह उपकार्य की आकाङ्क्षा से इतिकर्तव्यतया अन्वित होता है। क्योंकि कथम्भाव की आकाङ्क्षा में क्रिया का ही अन्वय लोक में दृष्ट है। जैसे 'कुठार से काटे' यहाँ पर कथम्भाव की आकाङ्क्षा में उच्चरित होता हुआ भी हाथ अन्वित नहीं होता किन्तु हाथ से उठाकर पटककर, इस प्रकार उठाना तथा पटकना इन क्रियाओं का ही अन्वय होता है। हाथ तो क्रियाद्वारा ही अन्वित होता है यह सर्वजनसम्मत सिद्धान्त है।

यह प्रकरण स्थानआदि से बली होता है। अतएव 'अक्षैर्दीव्यति…'

दयो धर्मा अभिषेचनीयसन्निधौ पठिता अपि स्थानान्न तदङ्गम् , किन्तु प्रकरणाद्राजसूयाङ्गमिति ।

देशसामान्यं स्थानम् । तद्द्विविधम्—पाठसादेश्यमनुष्ठानसादेश्यं चेति । स्थानं क्रमश्चेत्यनर्थान्तरम् । पाठसादेश्यमपि द्विविधम्—यथासङ्ख्यपाठः सन्निधिपाठश्चेति ।

तत्र 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्', 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' इत्येवं क्रमविहितेषु 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' इत्यादीनां याज्यानुवाक्यामन्त्राणां यथासंख्यं प्रथमस्य प्रथमं द्वितीयस्य द्वितीयमित्येवंरूपो विनियोगो यथासंख्यपाठात् । प्रथमपठितमन्त्रस्य हि कैमर्थ्याकाङ्क्षायां प्रथमतो विहितं कर्मैव प्रथममुपतिष्ठते, समानदेशत्वात् । एवं द्वितीयमन्त्रस्यापि । वैकृताङ्गानां प्राकृताङ्गानुवादेन विहितानां सन्दंशपतितानां विकृत्यर्थत्वं

स्थानं लक्षयति देशेति । तद्द्वैविध्यमाह पाठेति । पाठसादेश्यं विभजते यथासङ्ख्येति । आद्यमुदाहरति तत्रेति । पाठसादेश्यभेदं द्वितीयं सन्निधिपाठं सोदाहरणं लक्षयति वैकृताङ्गानामिति ।

इत्यादिस्थल में देवनआदिधर्म अभिषेचनीय के पास पठित होने पर भी स्थान से उसके अङ्ग नहीं होते किन्तु प्रकरण से राजसूय के अङ्ग होते हैं ।

देशसमानता अथवा समानदेशता को स्थान कहते हैं । वह दो प्रकार का होता है, पाठसादेश्य तथा अनुष्ठानसादेश्य । स्थान तथा क्रम इन दोनों के अर्थ में भेद नहीं । पाठसादेश्य भी दो प्रकार का होता है यथासंख्यपाठ तथा सन्निधिपाठ । 'ऐन्द्राग्न…' इत्यादि क्रम से विहित स्थलों में 'इन्द्राग्नी…' इत्यादि याज्यानुवाक्यामन्त्रों का यथासंख्य (संख्यानुसार) प्रथम का पहले तथा द्वितीय का दूसरा, इस प्रकार विनियोग यथासंख्यपाठ से होता है । पहले पढ़े हुये मन्त्र में 'यह किस लिये है' इस प्रकार की आकाङ्क्षा होने पर पहले विहितकर्म ही सर्वप्रथम उपस्थित होता है, देश की समानता के कारण । इसी तरह द्वितीयमन्त्र की भी व्यवस्था होती है ।

सन्निधिपाठ से जो विकृतिके अङ्ग प्रकृति के अङ्गोंके अनुवादद्वारा विहित तथा

सन्निधिपाठात्। यथा—आमनहोमानाम्। तेषां हि कैमर्थ्याकाङ्क्षायां फलं विकृत्यपूर्वमेव भाव्यत्वेन सम्बध्यते, उपस्थितत्वात्, स्वतन्त्रफलकत्वे विकृतिसन्निधिपाठानर्थक्यापत्तेः।

पशुधर्माणामग्नीषोमीयार्थत्वमनुष्ठानसादेश्यात्। औपवसथ्येऽह्नि अग्नीषोमीयः पशुरनुष्ठीयते तस्मिन्नेव दिने ते धर्माः पठ्यन्ते। अतस्तेषां कैमर्थ्याकाङ्क्षायामनुष्ठेयत्वेनोपस्थितं पश्वपूर्वमेव भाव्यत्वेन संबध्यते। तच्च स्थानं समाख्यातः प्रबलम्। अत एव शुन्धनमन्त्रः सान्नाय्यपात्राङ्गं पाठसादेश्यात्, न तु पौरोडाशिकमिति समाख्यया पुरोडाशपात्राङ्गम्।

स्थानभेदं द्वितीयमनुष्ठानसादेश्यं व्यवस्थापयति पशुधर्माणामिति। सादेश्यं च समानदेशकालस्थत्वम्।

विवरणेन स्थानसादेश्यं स्पष्टयति तस्मिन्नेव दिन इत्यादि। समाख्यानामकात् पञ्चमात् सहकारिप्रमाणात् स्थानाख्ये प्राबल्यमुपपादयति तच्चेति। अत एव =स्थानाख्यप्रमाणस्य समाख्यातः प्रबलत्वात् एव। बाध्यबाधकभावफलं निर्दिशति शुन्धनमन्त्र इति।

सन्दंशपतित होते हैं, उनका विकृतिमें विनियोग होता है। जैसे आमनहोमों का। क्योंकि उनमें 'ये किस लिये हैं?' ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर विकृतिका अपूर्वफलही भाव्यतया सम्बद्ध होता है, उपस्थित भी वही है (उपस्थित को छोड़कर अनुपस्थितकी कल्पना अनुचित होती है) स्वतन्त्रफल की कल्पना पर तो विकृतिके सन्निधिमें पाठ करनाही व्यर्थ हो जायगा।

पशुओंके उपाकरणपर्यग्निकरणआदिधर्म अनुष्ठानसादेश्यसे अग्नीषोमके लिये विनियुक्त होते हैं। औपवसथ्यदिनमें अग्नीषोमीयपशुका अनुष्ठान होता है, उसी दिन वे धर्म पढ़े जाते हैं। अतः उनकी 'ये किस लिये हैं?' ऐसी आकाङ्क्षामें अनुष्ठेयत्वेन उपस्थित पश्वपूर्वही भाव्यत्वेन सम्बद्ध होता है।

वह यह स्थान समाख्यासे प्रबल होता है। अत एव शुन्धनमन्त्र पाठसादेश्यसे सान्नाय्यपात्रों (कुम्भी आदि) का अङ्ग होता है, पौरोडाशिकम् इस समाख्यासे पुरोडाशपात्र (ओखलीआदि) का नहीं।

समाख्या यौगिकः शब्दः। सा च द्विविधा—वैदिकी लौकिकी च। तत्र होतुश्चमसभक्षणाङ्गत्वम्, होतृचमस इति वैदिक्या समाख्यया। अध्वर्योस्तत्तत्पदार्थाङ्गत्वम्, लौकिक्या आध्वर्यवमिति समाख्ययेति संक्षेपः। तदेवं निरूपितानि संक्षेपतः श्रुत्यादीनि षट्प्रमाणानि।

विनियोगविधिबोधिताङ्गनिरूपणम्।

एतत्सहकृतेन विनियोगविधिना समिदादिभिरुपकृत्य 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इत्येवंरूपेण यानि विनियोज्यन्ते तान्यङ्गानि द्विवि-

---

समाख्यां लक्षयति यौगिक इति। यौगिकशब्दस्यैव समाख्येति नाम। वर्णिताश्चतुर्विधाः शब्दा न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकृता पण्डितविश्वनाथेन। तथाहि—शक्तम्पदम्, तच्चतुर्विधम् कचिद्यौगिकम् कचिद्रूढम्, कचिद्योगरूढम्, कचिद्यौगिकरूढम्। तथा हि—यत्रावयवार्थ एव बुध्यते तद्यौगिकम्, यथा पाचकादिपदम्। यत्रावयवशक्तिनैरपेक्ष्येण समुदायशक्तिमात्रेण बुध्यते तद्रूढम्, यथा गोमण्डलादिपदम्। यत्र तु अवयवशक्तिविषये समुदायशक्तिरप्यस्ति तद्योगरूढम्, यथा पङ्कजादिपदम्। तथा हि–पङ्कजपदमवयवशक्त्या पङ्कजनिकर्तृरूपमर्थं बोधयति।

यत्र तु यौगिकार्थरूढ्यर्थयोः स्वातन्त्र्येण बोधस्तद्यौगिकरूढम्, यथोद्भिदादिपदम्। तत्र हि उद्भेदनकर्ता तरुगुल्मादिरपि बुध्यते, यागविशेषोऽपीति।

समाख्यां विभजते सा चेति। वैदिकीमुदाहरति तत्र होतुरिति। लौकिकीमुदाहरति अध्वर्योरिति। विनियोगविधिसहकारीणि श्रुत्यादीनि पञ्च प्रमाणानि संक्षेपतो लक्षितानीत्युपसंहरति तदेवमिति।

यौगिकशब्द को समाख्या कहते हैं। वह वैदिक तथा लौकिकभेदसे दो प्रकार की होती है। अत एव होतृचमस इस वैदिकसमाख्यासे होतामें चमसभक्षणकी अङ्गता सिद्ध होती है। आध्वर्यवम् इस लौकिकसमाख्या के बलसे अध्वर्यु तत्तत्पदार्थोंका अङ्ग होता है।

इस प्रकार श्रुति आदि छ प्रमाणों का संक्षेप से निरूपण किया गया।

इन ६ प्रमाणोंसे सहकृत विनियोगविधिसे समिध् आदिसे उपकार करके 'दर्शपूर्णमासाभ्यां…' इस रूप से जिनका विनियोग होता है वे अङ्ग दो प्रकारके

धानि—सिद्धरूपाणि क्रियारूपाणि चेति । तत्र सिद्धानि जातिद्रव्य-संख्यादीनि । तानि च दृष्टार्थान्येव । क्रियारूपाणि च द्विविधानि—गुण-कर्माणि प्रधानकर्माणि च । एतान्येव सन्निपत्योपकारकाणि आरादुप-कारकाणीति चोच्यन्ते ।

कर्माङ्गद्रव्याद्युद्देशेन विधीयमानं कर्म सन्निपत्योपकारकम् । यथाऽव-घातप्रोक्षणादि । तच्च-दृष्टार्थं अदृष्टार्थं दृष्टादृष्टार्थं चेति । तत्र दृष्टार्थमव-घातादि, अदृष्टार्थं प्रोक्षणादि, दृष्टादृष्टार्थं पशुपुरोडाशादि । तद्धि द्रव्य-त्यागांशेनैव अदृष्टं देवतोद्देशेन च देवतास्मरणं दृष्टं करोति ।

विनियोगविधिबोधिताङ्गानि विभजते द्विविधानीति । दृष्टार्थानि=दृष्टफलानि । क्रियारूपाणि विभजते द्विविधानीति । गुणकर्माणि=अवघातप्रभृतीनि । एतेषामेव नामान्तराण्याह सन्निपत्येति आरादिति च । प्रथमं सोदाहरणं लक्षयति कर्माङ्गेति । तदपि विभजते दृष्टार्थमित्यादिना । क्रमेणोदाहरति तत्रेत्यादि । समन्वयमाह तद्धीति ।

होते हैं, सिद्धरूप तथा क्रियारूप । जाति, द्रव्य, संख्या आदि सिद्धरूप कहे जाते हैं, वे सभी दृष्टार्थ (जिनके अर्थ प्रत्यक्ष) ही हैं । क्रियारूप दो प्रकार के होते हैं, गुणकर्म तथा प्रधानकर्म । ये ही सन्निपत्यउपकारक तथा आरात् उपकारक कहे जाते हैं । कर्माङ्गद्रव्य आदि के उद्देश से विधीयमान कर्मको अर्थात् विहितफल के साधनरूपयागशरीर को साक्षात्सम्बन्ध से अथवा परम्परया निष्पन्न करा कर उसके द्वारा तदुत्पन्नापूर्वके उपयोगी अङ्गको ही सन्निपत्योपकारक कहते हैं, जैसे अवघात, प्रोक्षण आदि । वह भी तीन प्रकार का होता है दृष्टार्थ (जिसका अर्थ दृष्ट हो) अदृष्टार्थ (जिसका अर्थ अदृष्ट हो) तथा दृष्टादृष्टार्थ (जिसका अर्थ दृष्ट तथा अदृष्ट दोनों ही सम्भव हो) ।

प्रथमका उदाहरण अवघात आदि, द्वितीय का प्रोक्षण आदि, तृतीय का पशु-पुरोडाश आदि । वह पशुपुरोडाशआदि द्रव्यत्याग अंशसे अदृष्ट तथा देवताके उद्देशसे देवता के स्मरणरूप दृष्ट का सम्पादन करता है ।

द्रव्याद्यनुद्दिश्य केवलं विधीयमानं कर्म आरादुपकारकम्। यथा प्रयाजादि। आरादुपकारकं च परमापूर्वोत्पत्तावेवोपयुज्यते। सन्निपत्योपकारकं तु द्रव्यदेवतासंस्कारद्वारा यागस्वरूपेऽप्युपयुज्यते। इदमेव चाश्रयिकर्मेत्युच्यते।

तदेवं निरूपितः संक्षेपतो विनियोगविधिः।

प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः। स चाङ्गवाक्यैकवाक्यतापन्नः प्रधानविधिरेव। स हि साङ्गं प्रधानमनुष्ठापयन्विलम्वे प्रमाणाभावादविलम्बापरपर्य्यायं प्रयोगप्राशुभावं विधत्ते। न च तदविलम्बेऽपि प्रमाणाभाव इति वाच्यम्; विलम्बे हि अङ्गप्रधानविध्येकवाक्यतावगत-

---

द्वितीयमुदाहरति सोदाहरणं द्रव्याद्यनुद्दिश्येति। कास्योपयोग इत्याह परमेति। प्रथमस्य कोपयोग इत्याशंक्य ब्रूते द्रव्यदेवतेति। विनियोगविधिनिरूपणमुपसंहरति तदेवमिति।

क्रमप्राप्तं प्रयोगविधिं लक्षयति प्रयोगेति। विलम्बाभावेऽर्थापत्तिमाह विलम्बे हीति। अङ्गानाम् प्रधानविधिना सह या एकवाक्यतेति क्रमः।

द्रव्य आदि का उद्देश न करके केवलविधीयमानकर्म को आरादुपकारक कहते हैं। जैसे प्रयाज आदि। परमापूर्व की उत्पत्ति में ही आरादुपकारक का उपयोग होता है। सन्निपत्योपकारक का तो द्रव्यदेवता के संस्कारके द्वारा यागके स्वरूप में भी उपयोग होता है। इसीको आश्रयिकर्म भी कहते हैं।

इस प्रकार विनियोगविधिका संक्षेप से निरूपण किया गया।

प्रयोग के प्राशुभाव के बोधकविधि को प्रयोगविधि कहते हैं। वह भी अङ्गवाक्य के साथ एकवाक्यतापन्न प्रधानविधि ही है। वह अङ्गसहितप्रधान का अनुष्ठान कराता हुआ विलम्ब में प्रमाण न रहने से अविलम्बसंज्ञक प्रयोग के प्राशुभाव को करता है।

प्रश्न —उसके अविलम्ब में ही क्या प्रमाण?

उत्तर—विलम्ब मानने पर अङ्ग तथा प्रधानविधि की एकवाक्यता से अवगत

तत्साहित्यानुपपत्तिः। विलम्बेन क्रियमाणयोः पदार्थयोरिदमनेन सहकृतमिति साहित्यव्यवहाराभावात्। स चाविलम्बो नियते क्रमे आश्रीयमाणे भवति। अन्यथा हि किमेतदनन्तरमेतत्कर्तव्यमेतदनन्तरं वेति प्रयोगविक्षेपापत्तेः। अतः प्रयोगविधिरेव स्वविधेयप्रयोगप्राशुभावसिद्ध्यर्थं नियतं क्रममपि पदार्थविशेषणतया विधत्ते। अत एवाङ्गानां क्रमबोधको विधिः प्रयोगविधिरित्यपि लक्षणम्।

तत्र क्रमो नाम विततिविशेषः, पौर्वापर्यरूपो वा।

क्रमसहायकश्रुत्यादिषट्प्रमाणनिरूपणम्।

तत्र षट् प्रमाणानि—श्रुति-अर्थ-पाठ-स्थान-मुख्य-प्रवृत्त्याख्यानि। तत्र क्रमपरवचनं श्रुतिः। तच्च द्विविधम्—केवलक्रमपरं तद्विशिष्ट-

---

व्यवहारेण प्रमाणयति विलम्बेनेति। क्रमनैयत्ये सर्वमिदमिति विवृणोति स चेति। पूर्वोक्तविधया क्रमनैयत्यादेरावश्यकतया फलितं लक्षणान्तरमप्याह अत एवेति। प्रसङ्गादागतं क्रमं निरूपयति तत्रेति। क्रमसहायकप्रमाणानि निरूपयति तत्रेति। श्रुतिं लक्षयति क्रमेति। विभजते द्विविधमिति।

जो उसका साहित्य वह अनुपपन्न हो जायगा। क्योंकि विलम्ब से किये जाने वाले पदार्थों में इससे यह सहकृत है ऐसा साहित्य का व्यवहार नहीं होता। वह अविलम्ब भी नियतक्रम के आश्रयण रहने पर ही होता है। अन्यथा क्या इसके बाद यह करना अथवा इसके बाद ? इस प्रकार का अनिश्चय (सन्देह) रहने पर प्रयोगविक्षेप (अनुष्ठान का उच्छेद) हो जायगा। अतः प्रयोगविधि ही स्वविधेय (अपने द्वारा किये जाने वाले) प्रयोग की प्राशुभावसिद्धि के लिये पदार्थविशेषणतया क्रम का भी विधान करती है। अतएव अङ्गों के क्रम का बोधकविधि ही प्रयोगविधि है ऐसा भी लक्षण किया जाता है।

विततिविशेष (विस्तारविशेष) अथवा पौर्वापर्यरूप (उन उन पदार्थों के बाद वे वे पदार्थ इस तरह अनेक पदार्थों में रहनेवाले पूर्वापरीभाव) को क्रम कहते हैं। उस नियम में श्रुति, अर्थ आदि ६ प्रमाण होते हैं।

उनमें क्रमबोधकशब्द को श्रुति कहते हैं। वह भी दो प्रकार की होती है,

पदार्थपरं चेति। तत्र 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' इति केवलक्रमपरं, वेदिकरणादेर्वचनान्तरप्राप्तत्वात्। 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष' इति तु क्रमविशिष्टपदार्थपरम्। एकप्रसरताभङ्गभयेन भक्षानुवादेन क्रममात्रस्य विधातुमशक्यत्वात्। सेयं श्रुतिरितरप्रमाणापेक्षया बलवती। तेषां वचनकल्पनद्वारा क्रमप्रमाणत्वात्। अत एवाश्विनग्रहस्य पाठक्रमात्तृतीयस्थाने ग्रहणप्रसक्तौ आश्विनो दशमो गृह्यत इति वचनाद्दशमस्थाने ग्रहणमित्युक्तम्।

यत्र प्रयोजनवशेन क्रमनिर्णयः सः अर्थक्रमः। यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति', 'यवागूं पचति' इत्यग्निहोत्रयवागूपाकयोः। अत्र हि यवाग्वा होमार्थत्वेन तत्पाकः प्रयोजनवशेन पूर्वमनुष्ठीयते।

प्रथममुदाहरति तत्र वेदमिति। क्रमविशिष्टपदार्थपरं निरूपयति वषडिति। अस्य विशिष्टपदार्थपरत्वमुपपादयति एकप्रसरेति। अर्थादिप्रमाणानां श्रुतिकल्पनद्वारैव क्रमप्रामाण्यात्तदपेक्षयाऽस्या बलवत्त्वमाह सेयमिति। अत एवः = इतरप्रमाणापेक्षयाऽस्याः प्रबलत्वादेव। उक्तिमिति। पञ्चमाध्यायतुरीयपादप्रथमाधिकरण इति भावः। अर्थक्रमं निरूपयति यत्रेति। उदाहरति यथेति। शाब्दक्रमात् आर्थक्रमो बलीयानिति व्यवहारोऽप्येतन्मूलक एवेति।

केवलक्रमपर तथा तद्विशिष्टपदार्थपर। 'वेदं कृत्वा…' यह केवलक्रमपर का उदाहरण है क्योंकि वेदिकरण इत्यादि की प्राप्ति दूसरे वचन से प्राप्त है। 'वषट्…' यह क्रमविशिष्टपदार्थपर का उदाहरण है, क्योंकि एकवाक्यता के भङ्ग हो जाने के भय से भक्षानुवादद्वारा केवलक्रम का विधान नहीं हो सकता। यह श्रुति अन्य (अर्थ आदि) प्रमाणों की अपेक्षा बलवती होती है। क्योंकि वे वचनकल्पना के द्वारा ही क्रमप्रमाण होते हैं। अत एव आश्विनग्रह का पाठक्रम से तृतीयस्थान में ग्रहण प्राप्त होने पर 'आश्विनो दश…' इस वचन से दशमस्थान में ग्रहण होता है ऐसा कहा गया है।

जहाँ पर प्रयोजन से क्रम का निर्णय किया जाय उसे अर्थक्रम कहते हैं। जैसे 'अग्निहोत्रं…यवागूं…' यहाँ पर अग्निहोत्र तथा यवागूपाक में। क्योंकि वहाँ पर यवागू होम के लिये होती है, अतः उसका प्रयोजनवश पहले ही पाक किया

स चायं पाठक्रमाद्बलवान् । यथापाठं ह्यनुष्ठाने क्लृप्तप्रयोजनबाधोऽदृष्टार्थत्वं च स्यात् । न हि होमानन्तरं क्रियमाणस्य पाकस्य किञ्चिद् दृष्टं प्रयोजनमस्ति ।

पदार्थबोधकवाक्यानां यः क्रमः स पाठक्रमः । तस्माच्च पदार्थानां क्रम आश्रीयते । येन हि क्रमेण वाक्यानि पठितानि तेनैव क्रमेणाधीतान्यर्थप्रत्ययं जनयन्ति । यथाप्रत्ययं च पदार्थानामनुष्ठानम् ।

स च पाठो द्विविधः—मन्त्रपाठो ब्राह्मणपाठश्चेति । तत्राग्नेयाग्नीषोमीययोस्तत्तद्याज्यानुवाक्यानां पाठाद्यः क्रम आश्रीयते स मन्त्रपाठात् । स चायं मन्त्रपाठो ब्राह्मणपाठाद्बलीयान्, अनुष्ठाने ब्राह्मणवाक्यापेक्षया मन्त्रपाठस्यान्तरङ्गत्वात् । ब्राह्मणवाक्यं हि प्रयोगाद्बहिरेवेदं कर्तव्यमित्यवबोध्य कृतार्थम् । मन्त्राः पुनः प्रयोगकाले व्याप्रियन्ते, अनुष्ठान-

---

पाठक्रमादनुष्ठाने दोषमाह यथापाठमिति । तृतीयं पाठक्रमं लक्षयति पदार्थेति । पाठं विभजते द्विविध इति । प्रथममुदाहरति तत्रेति । द्वितीयापेक्षयास्य प्राबल्यम् 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति न्यायेन स्पष्टयति स चायमिति । ब्राह्मणवाक्यस्य बहिरङ्गतां स्फोटयति बहिरेवेदमिति । मन्त्रपाठस्यान्तरङ्गतां साधयति मन्त्राः

जाता है । यह अर्थक्रम पाठक्रम से बली होता है । पाठक्रमानुसार अनुष्ठान करने पर आवश्यकप्रयोजन का बाध तथा अदृष्टार्थता हो जायगी । क्योंकि होम के बाद किये गये पाक का कोई दृष्ट प्रयोजन नहीं ।

पदार्थबोधकवाक्यों का जो क्रम उसे ही पाठक्रम कहते हैं । पाठक्रम से ही पदार्थों का क्रम माना जाता है । जिस क्रम से वाक्य पढ़े गये हों उसी क्रम से अधीत होने पर अर्थज्ञान के जनक होते हैं । ज्ञानक्रमानुसार ही पदार्थों का अनुष्ठान होता है । वह पाठ भी दो प्रकार का होता है–मन्त्रपाठ तथा ब्राह्मणपाठ ।

अतएव आग्नेय तथा अग्नीषोमीय में तत्तद्याज्या एवं अनुवाक्या ऋचाओं के पाठ से (मन्त्रपाठद्वारा) क्रम माना जाता है । वह यह मन्त्रपाठ ब्राह्मणपाठ से बहुत बली होता है, क्योंकि अनुष्ठान में ब्राह्मणवाक्य की अपेक्षा मन्त्रपाठ अन्तरङ्ग होता है । ब्राह्मणवाक्य तो प्रयोग से बाहर ही 'यह करना चाहिये' ऐसा ज्ञान करा कर कृतार्थ हो जाता है । परन्तु मन्त्रों का तो प्रयोगकाल में व्यापार होता है

क्रमस्य स्मरणक्रमाधीनत्वात्। तत्क्रमस्य च मन्त्रक्रमाधीनत्वाद् अन्तरङ्गोऽयं मन्त्रपाठ इति।

प्रयाजानां 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति' इत्येवंविधपाठक्रमाद्यः क्रमः स ब्राह्मणपाठक्रमात्। यद्यपि ब्राह्मणवाक्यान्यर्थं विधाय कृतार्थानि तथापि प्रयाजादीनां क्रमस्मारकान्तरस्याभावात्तान्येव क्रमस्मारकत्वेन स्वीक्रियन्ते।

स्थानं नामोपस्थितिः। यस्य हि देशे योऽनुष्ठीयते तत्पूर्वतने पदार्थे कृते स एव प्रथममुपस्थितो भवतीतियुक्तं तस्य प्रथममनुष्ठानम्। अत एव साद्यस्के—अग्नीषोमीय-सवनीया-नुबन्ध्यानां सवनीयदेशे सहानुष्ठाने

पुनरिति। ब्राह्मणपाठमुदाहरति प्रयाजानामिति। तुरीयं स्थानप्रमाणं लक्षयति स्थानमिति। अत्र हि तत्पूर्वतने इत्यत्र तस्मात् पूर्वतन इति समासः, पूर्वतनशब्दः प्राक्तनार्थकः। वस्तुतस्तु महर्षिप्रवरेण पाणिनिना 'सायंचिरम्प्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्य-ष्ट्युट्युलौ तुट् च' इत्यनेन प्राक्तनादय एव साधिताः, पूर्वशब्दस्यानव्ययत्वेन ततः पूर्वतनादिसाधनेऽस्याप्रवृत्तेरीदृशा भ्रान्त्यैव प्रयुज्यन्ते सर्वैरिति ध्येयम्। प्रथमोपस्थितस्य प्रथमानुष्ठानमेवोदाहरणेन पोषयति अत एवेति। कः साद्यस्क इत्याह

क्योंकि अनुष्ठानक्रम स्मरणक्रम के अधीन तथा स्मरणक्रम मन्त्रक्रम के अधीन होता है, अतः मन्त्रपाठ अन्तरङ्ग हो जाता है।

प्रयाजों के 'समिधो यजति…' इत्यादि पाठक्रम से जो क्रम बनाया जाता है वह ब्राह्मणपाठक्रम का उदाहरण है। ब्राह्मणवाक्य यद्यपि अर्थ का विधान करके कृतार्थ हो जाते हैं तथापि प्रयाज आदि का कोई दूसरा क्रमस्मारक न रहने से वे (ब्राह्मणवाक्य) ही क्रमस्मारक माने जाते हैं।

उपस्थितिविशेष से अनुष्ठानक्रम को स्थानक्रम कहते हैं। जिसके देश में जो अनुष्ठित होता है उससे प्राक्तनपदार्थ के हो जाने पर वही सब से प्रथम उपस्थित होता है, अतः उसका प्रथम अनुष्ठितहोना युक्त ही है। अतएव साद्यस्क में अग्नीषोमीय-सवनीय तथा आनुबन्ध्यों के सवनीयदेश में सहानुष्ठान करते समय

कर्तव्ये आदौ सवनीयपशोरनुष्ठानमितरयोः पश्चात्। तस्मिन्देशे आश्विनग्रहणानन्तरं सवनीयस्यैव प्रथममुपस्थितिः। तथा हि ज्योतिष्टोमे त्रयः पशुयागाः—अग्नीषोमीयः सवनीय आनुबन्ध्यश्चेति। ते च भिन्नदेशाः—अग्नीषोमीय औपवसथ्येऽह्नि, सवनीयः सुत्याकाले, आनुबन्ध्यस्त्वन्ते। साद्यस्क्रो नाम यागविशेषः। स चाव्यक्तत्वाज्ज्योतिष्टोमविकारः। अतस्ते त्रयोऽपि पशुयागाः साद्यस्क्रे चोदकप्राप्ताः। तेषां च तत्र साहित्यं श्रुतं 'सह पशूनालभेत' इति। तच्च साहित्यं सवनीयदेशे, तस्य प्रधानप्रत्यासत्तेः, स्थानातिक्रमसाम्याच्च। सवनीयदेशे ह्यनुष्ठानेऽग्नीषोमीयानुबन्ध्ययोः स्वस्वस्थानातिक्रमो भवति (प्रधानप्रत्यासत्तिलाभश्च) अग्नीषोमीयदेशे त्वनुष्ठाने सवनीयस्य स्वस्थानातिक्रममात्रम्। अग्नीषोमीयस्य सवनीयस्थानातिक्रमः, अनुबन्ध्यस्य तु स्वस्थानातिक्रमः, सवनीयस्थानातिक्रमश्च स्यादिति त्रयाणां स्वस्थानातिक्रमः। एवमनुबन्ध्य-

---

यागेति। सोमयागविशेषस्य संज्ञा। उपसंहरति अत इति।

सर्वप्रथम सवनीयपशु का अनुष्ठान तथा अग्नीषोमीय एवं आनुबन्ध्य का बाद में होता है। उस देश में आश्विनग्रहण के बाद सवनीय की ही प्रथम उपस्थिति होती है। तथाहि—ज्योतिष्टोम में तीन पशुयाग होते हैं—अग्नीषोमीय, सवनीय तथा आनुबन्ध्य। ये सभी भिन्नदेश में होते हैं। जैसे अग्नीषोमीय औपवसथ्यदिन में, सवनीय सुत्याकाल में, तथा अवभृथ से ऊर्ध्वकाल में आनुबन्ध्य होता है।

यागविशेष को साद्यस्क कहते हैं। वह भी स्वार्थचोदितदेवता से रहित होने के कारण ज्योतिष्टोम का विकार कहा जाता है। अतः वे तीनों ही पशुयाग साद्यस्क में चोदक से प्राप्त हैं। उनका वहाँ पर साहित्य श्रुत है 'सहपशून्…' इस वाक्य में। वह साहित्य सवनीयदेश में रहता है क्योंकि वह प्रधान के प्रत्यासन्न रहता है, साथ ही स्वस्थानातिक्रमसमानता भी है। सवनीयदेश में अनुष्ठान करें तो अग्नीषोमीय तथा आनुबन्ध्य दोनों का स्वस्वस्थानातिक्रम होता है, प्रधान की प्रत्यासत्ति का लाभ भी। अग्नीषोमीयदेश में अनुष्ठान करने पर सवनीय को स्वस्थानातिक्रम, अग्नीषोमीय का सवनीयस्थानातिक्रम, आनुबन्ध्य को स्वस्थानातिक्रम

देशेऽग्नीषोमीयस्य द्रष्टव्यः स्थानातिक्रमः। तथा च सवनीयदेशे सर्वेषामनुष्ठाने कर्तव्ये सवनीयस्य प्रथममनुष्ठानम्। आश्विनग्रहणानन्तरं हि सवनीयदेशः। प्रकृता 'वाश्विनग्रहं कृत्वा त्रिवृता यूपं परिवीय आग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति' इत्याश्विनग्रहणानन्तरं सवनीयो विहित इति साद्यस्केऽप्याश्विनग्रहणे कृते सवनीय एवोपस्थितो भवति। अतो युक्तं तस्य स्थानात्प्रथममनुष्ठानम्, इतरयोस्तु पश्चादित्युक्तम्।

प्रधानक्रमेण योऽङ्गानां क्रमः स मुख्यक्रमः। येन हि क्रमेण प्रधानानि क्रियन्ते, तेनैव क्रमेण तेषामङ्गान्यनुष्ठीयन्ते चेत् तदा सर्वेषामङ्गानां स्वैः स्वैः प्रधानैस्तुल्यं व्यवधानं भवति। व्युत्क्रमेणानुष्ठाने केषाञ्चिदङ्गानां स्वैः प्रधानैरत्यन्तमव्यवधानं केषाञ्चिदत्यन्तं व्यवधानं स्यात्,-

---

पञ्चमं मुख्यक्रमाख्यं व्याचष्टे प्रधानेति। व्युत्क्रमेणानुष्ठाने इष्टापत्तिं खण्डयति केषाञ्चिदिति। अभिघारणमिति गलितघृतेन क्रियमाणस्याभिषेकस्य संज्ञा। झटित्यु-

---

तथा सवनीयस्थानातिक्रम होगा, इस तरह तीनों को स्वस्वस्थानातिक्रम होगा। इसी प्रकार आनुबन्ध्यदेश में अग्नीषोमीय का स्थानातिक्रम जानना चाहिये।

तथा च सवनीयदेश में सबका अनुष्ठान करते समय सवनीय का प्रथम अनुष्ठान होता है। आश्विनग्रहण के बाद ही सवनीयदेश होता है। प्रकृति में आश्विनसोम का ग्रह (ग्रहण) करके त्रिवृता (त्रिगुणित रस्सी से) यूप को परिवीय (लपेट कर) आग्नेयसवनीयपशु का उपाकरण करता है, इस प्रकार आश्विनग्रहण के बाद सवनीय का विधान है। उसी तरह साद्यस्क में भी आश्विनग्रहण कर लेने के बाद सवनीय ही उपस्थित होता है। अतः स्थान के बल से उसका प्रथम तथा अन्य का अनुष्ठान बाद में होना उचित ही है।

प्रधानक्रम से जो अङ्गों का क्रम उसे मुख्यक्रम कहते हैं। जिस क्रम से प्रधान किये जाते हैं उसी क्रम से उसके अङ्गों का अनुष्ठान हो तो सभी अङ्गों का अपने अपने प्रधानों के तुल्य व्यवधान होता है।

व्युत्क्रम से अनुष्ठान करने पर किन्हीं अङ्गों का अपने प्रधानों के साथ अत्यन्त

तच्चायुक्तम्, प्रयोगविध्यवगतसाहित्यबाधापत्तेः। अतः प्रधानक्रमोऽप्यङ्गक्रमे हेतुः। अत एव प्रयाजशेषेणादावाग्नेयहविषोऽभिघारणं पश्चादैन्द्रस्य दध्नः, आग्नेयैन्द्रयागयोः पौर्वापर्यात्। एवं च द्वयोरभिघारणयोः स्वस्वप्रधानेन तुल्यमेकान्तरितं व्यवधानं, व्युत्क्रमेणाघारे त्वाग्नेयहविरभिघारणाग्नेययागयोरत्यन्तमव्यवधानम्, ऐन्द्रदध्यभिघारणैन्द्रयागयोर्द्व्यन्तरितं व्यवधानं तच्चायुक्तमित्युक्तमेव। स च मुख्यः क्रमः पाठक्रमाद्दुर्बलः। मुख्यक्रमो हि प्रमाणान्तरसापेक्षप्रधानक्रमप्रतिपत्तिसापेक्षतया विलम्बितप्रतिपत्तिकः। पाठक्रमस्तु निरपेक्षस्वाध्यायपाठक्रममात्रसापेक्षतया न तथेति बलवान्। स चायं मुख्यः क्रमः प्रवृत्तिक्रमाद् बलवान्।

प्रस्थितिमात्रेण पाठक्रमो बलीयान् तदपेक्षया च मुख्यक्रमो विलम्बितप्रतिपत्त्या दुर्बल इति स्पष्टयति स चेति। प्रवृत्तिक्रमापेक्षया मुख्यक्रमे बलवत्तां स्थिरयति स चायमिति।

अव्यवधान तथा किन्हीं का अत्यन्त व्यवधान हो जायगा, वह सर्वथा अयुक्त है, अन्यथा प्रयोगविधि में अवगत होनेवाले साहित्य का बाध हो जायगा। अतः प्रधानक्रम भी अङ्गक्रम में हेतु होता है। अत एव प्रयाजशेष से पहले आग्नेयहवि का अभिघारण (गले घी से अभिषेक) होता है, पश्चात् ऐन्द्रदधि का, क्योंकि आग्नेयतथा ऐन्द्रयागों का पूर्वापरीभाव नियत है। एवं च दोनों अभिघारणों का अपने अपने प्रधान के बराबर एक से अन्तरित व्यवधान, व्युत्क्रम से आघार करने पर आग्नेय हवि के अभिघारण तथा आग्नेययाग दोनों का अत्यन्त अव्यवधान, ऐन्द्रदधि का अभिघारण तथा ऐन्द्रयाग इन दोनों का दोसे अन्तरित व्यवधान होगा। जिसे कि सर्वथा अयुक्त पहले ही कह चुका हूँ।

वह मुख्यक्रम पाठक्रम से दुर्बल होता है। क्योंकि मुख्यक्रम प्रमाणान्तर की अपेक्षा करने वाले प्रधानक्रम के ज्ञान के सापेक्ष होने से बिलम्बितज्ञान वाला होता है। पाठक्रम तो किसी की अपेक्षा न रखने वाले केवल स्वाध्यायपाठक्रम की अपेक्षा से अनुगृहीत होने के कारण वैसा नहीं है, अतः बलवान् होता है।

वह यह मुख्यक्रम प्रवृत्तिक्रम से बलवान् होता है। क्योंकि प्रवृत्तिक्रम में

प्रवृत्तिक्रमे हि बहूनामङ्गानां प्रधानविप्रकर्षात्, मुख्यक्रमे तु संनिकर्षात्।

सहप्रयुज्यमानेषु प्रधानेषु संनिपातिनामङ्गानामावृत्त्यानुष्ठाने कर्तव्ये हि द्वितीयादिपदार्थानां प्रथमानुष्ठितपदार्थक्रमाद्यः क्रमः स प्रवृत्तिक्रमः। यथा प्राजापत्यपश्वङ्गेषु। प्राजापत्या हि 'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ति' इति वाक्येन तृतीयानिर्देशात्सेतिकर्तव्यताका एककालत्वेन विहिताः, अस्तेषां तदङ्गानां चोपाकरणनियोजनप्रभृतीनां साहित्यं संपाद्यम्। तच्च प्राजापत्यपशूनां संप्रतिपन्नदेवताकत्वेन युगपदनुष्ठानादुपपद्यते। तदङ्गानां चोपाकरणादीनां युगपदनुष्ठानमशक्यम्। अतस्तेषां साहित्यमव्यवहितानुष्ठानात्संपाद्यम्। तच्चैकस्योपाकरणं विधायापरस्योपाकरणं विधेयम्। एवं नियोजनादिकमपि। तथा च प्राजापत्येषु कस्माच्चित्पशोरारभ्य एकं सर्वत्रानुष्ठाय द्वितीयादिपदार्थस्तेनैव क्रमेणानुष्ठेयः स प्रवृत्ति-

---

क्रमप्राप्तं षष्ठं प्रवृत्तिक्रमं व्याचक्षाण आह सहप्रयुज्येति। तेषाम् = प्राजापत्यानाम्। तदङ्गानाम् = प्राजापत्याङ्गानाम्। युगपत् = एककालावच्छेदेन। श्रुति-

---

अङ्गों का प्रधान के साथ विप्रकर्ष होता है परन्तु मुख्यक्रम में तो सन्निकर्ष ही होता है।

एक साथ प्रयुक्त होने वाले प्रधानों में सन्निपाती अङ्गों की आवृत्ति से अनुष्ठान करते समय द्वितीय आदि पदार्थों का प्रथमानुष्ठितपदार्थों के क्रम से जो क्रम उसे प्रवृत्तिक्रम कहते हैं। जैसे प्राजापत्यपशु अङ्गों में। 'वैश्वदेवीं कृत्वा…' इत्यादिवाक्य में तृतीयानिर्देश से प्राजापत्य इतिकर्त्तव्यतासहित एककाल में विहित हैं। अतः उसका तथा उसके अङ्गों (उपाकरण नियोजनप्रभृति) का साहित्य बनाना चाहिये, वह प्राजापत्य पशुओं के सम्प्रतिपन्नदेवताक होने से एककाल में अनुष्ठान से बनता है। उस के अङ्ग उपाकरण आदि का एककाल में अनुष्ठान हो नहीं सकता। अतः अव्यवहितअनुष्ठान से उन का साहित्य बनाना चाहिये। वह तो एक का उपाकरण कर के दूसरे का उपाकरण करना चाहिये। इसी प्रकार नियोजन इत्यादि भी। तथा च प्राजापत्यों में किसी पशु से आरम्भ करके सब में एक का अनुष्ठान कर के द्वितीय आदि पदार्थ का

क्रमः। सोऽयं श्रुत्यादिभ्यो दुर्बलः।

तदेवं संक्षेपतो निरूपितः षड्विधक्रमनिरूपणेन प्रयोगविधिः।

कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः। कर्मजन्यफलस्वाम्यं कर्मजन्यफलभोक्तृत्वम्। स च 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिरूपः। स्वर्गमुद्दिश्य यागं विदधताऽनेन स्वर्गकामस्य यागजन्यफलभोक्तृत्वं प्रतिपाद्यते। 'यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान्दहेत् सोऽग्नये क्षामवतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्' इत्यादिनाऽग्निदाहादौ निमित्ते कर्म विदधता निमित्तवतः कर्मजन्यपापक्षयरूपफलस्वाम्यं प्रतिपाद्यते। एवं 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इत्यादिना

अर्थप्रभृतिप्रमाणेभ्यो दौर्बल्यमस्य सिद्धान्तभूतं प्रतिपादयति सोऽयमिति। प्रयोगविधिनिरूपणमुपसंहरति तदेवमिति।

अधिकारविधिं व्याचष्टे कर्मजन्येति। स्वामिनो भावः स्वाम्यम्। उदाहरति स चेति। अन्यदुदाहरणमाह यस्येति। पुनरुदाहरणान्तरमाह एवमिति। अधि-

---

अनुष्ठान भी उसी क्रम से करना चाहिये, यही प्रवृत्तिक्रम है। वह यह श्रुति आदि से दुर्बल होता है। इस प्रकार संक्षेप से षड्विधक्रमों के निरूपणपूर्वक प्रयोजनविधि का निरूपण किया गया।

अधिकारविधिका लक्षण।

कर्म से उत्पन्न होनेवाला जो फल उसके स्वामित्व के बोधक विधि को अधिकारविधि कहते हैं। कर्मजन्यफल के भोक्ता को फलस्वामी कहते हैं। इस विधि का उदाहरण 'यजेत स्वर्गकामः' अर्थात् स्वर्ग चाहनेवाला व्यक्ति यज्ञ करे' है। स्वर्ग को उद्देश्य बनाकर याग का विधान करते हुये इस वाक्य से स्वर्गाभिलाषी व्यक्ति में यागजन्य जो फल उसके भोक्तृत्व (भोग) का प्रतिपादन करता है।

इसी प्रकार 'यस्याहिताग्ने…' इत्यादिवाक्यद्वारा अग्निदाह आदि निमित्त में कर्म का विधान करते हुये निमित्तवान् पुरुष में कर्मजन्य जो पापक्षयरूपफल उसके स्वामित्व का प्रतिपादन किया जा रहा है।

इसी प्रकार 'अहरहः स…' इत्यादिवाक्यसे शुचि तथा विहितकाल तक

शुचिविहितकालजीविनः सन्ध्योपासनजन्यप्रत्यवायपरिहाररूपफलस्वाम्यं बोध्यते। तच्च फलस्वाम्यं तस्यैव योऽधिकारविशिष्टः, अधिकारश्च स एव यद्विधिवाक्येषु पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयते। यथा काम्ये कर्मणि फलकामना, नैमित्तिके कर्मणि निमित्तनिश्चयः, नित्ये सन्ध्योपासनादौ शुचिविहित-कालजीवित्वम्। अत एव 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इत्यनेन विधिवाक्येन स्वाराज्यमुद्दिश्य विदधतापि न स्वाराज्यमात्र-कामस्य तत्फलभोक्तृत्वं प्रतिपाद्यते, किन्तु राज्ञः सतः स्वाराज्यकामस्यैव, राजत्वस्याप्यधिकारिविशेषणत्वेन श्रवणात्। क्वचित्तु पुरुषविशेषणत्वेना-श्रुतमप्यधिकारिविशेषणम्। यथाऽध्ययनविधिसिद्धा विद्या, क्रतुविधी-

---

कारिणि फलस्वाम्यमुपपादयति तच्चेति। किन्त्विति। क्षत्रिये राजनि वस्तुतो राजन्ये इत्यर्थः, राजानस्तु ब्राह्मणा अपि वैश्यशूद्रादयोऽपि च लोके दृश्यन्ते परन्न तेषां राजसूयाधिकारः। अत एव तत्तदधिकारनिरूपणे 'निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्यो-दितो विधिः। तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयो नान्यस्य कस्य चित्' इत्यादि-

---

जीवी व्यक्ति में सन्ध्योपासन से उत्पन्न होनेवाले प्रत्यवायपरिहाररूपी फल के स्वामित्व का प्रतिपादन होता है। वह फलस्वामित्व भी उसी में होता है जो अधिकारयुक्त (अधिकारी) व्यक्ति होता है। अधिकार भी वही है जो कि विधिवाक्य में पुरुष के विशेषणरूप से कहा गया हो। जैसे काम्यकर्म में फल-कामना नैमित्तिककर्म में निमित्त का निश्चय तथा नित्यकर्म (सन्ध्योपासन आदि) में शौचविशिष्टविहितकालजीवित्व आदि।

अत एव राजा 'राजसू...' यह विधिवाक्य स्वाराज्य का उद्देश करके विधान करता हुआ भी स्वाराज्यमात्र को चाहनेवाले जिस किसी व्यक्ति के उस फल के स्वामित्व का प्रतिपादन नहीं करता, किन्तु राजा (क्षत्रिय) होते हुये स्वाराज्य चाहनेवाले में, क्योंकि विधिवाक्य में राजत्वरूपविशेषण अधिकारी में लगाया गया है।

कहीं पर तो पुरुषविशेषणत्वेन अश्रुत (अनुक्त) भी विशेषण अधिकारी में माना जाता है। जैसे—अध्ययनविधि से सिद्धविद्या अध्ययनविधि से सिद्ध-

नामर्थज्ञानापेक्षणीयत्वेनाध्ययनविधिसिद्धार्थज्ञानवन्तं प्रत्येव प्रवृत्तेः। एवमग्निसाध्यकर्मसु आधानसिद्धाग्निमत्ता। अग्निसाध्यकर्मणामग्न्यपेक्ष-त्वेन तद्विधीनामाधानसिद्धाग्निमन्तं प्रत्येव प्रवृत्तेः। एवं सामर्थ्यमपि 'आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी'इति न्यायात् समर्थं प्रत्येव विधिप्रवृत्तेः।

तदेवं निरूपिता विधिमीमांसा।

वचनानि शास्त्रेषूपलभ्यन्ते। विद्यादिवत्पुरुषसामर्थ्यमपि अधिकारिविशेषणं यद्यपि विधिवाक्येषु न श्रूयते इत्याह एवं सामर्थ्यमपीति। सामर्थ्यस्य प्रयोजनमाह समर्थम्प्रतीति। विधिमीमांसानिरूपणमुपसंहरति तदेवमिति।

अर्थज्ञानवान् के प्रति ही प्रवृत्ति होती है क्योंकि क्रतु (यज्ञ) विधियाँ सभी अर्थज्ञान की अपेक्षा करती हैं।

इसी प्रकार अग्निसाध्यकर्मों में आधानसिद्ध अग्निमत्त्व। क्योंकि अग्निसाध्य सभी कर्म अग्नि की अपेक्षा करते हैं, तथा च अग्निसाध्यकर्मविधियों की प्रवृत्ति आधानसिद्ध अग्निमान् के प्रति ही होती है।

अध्ययनविधिसिद्धविद्या आदि की तरह विधिवाक्य में अश्रुत पुरुषसामर्थ्य भी अधिकारी का ही विशेषण होता है। क्योंकि अर्थों को बतलाते हुये आख्यातों की सहायिकाशक्ति होती है इस न्याय से समर्थ के प्रति ही विधि की प्रवृत्ति होती है।

इस प्रकार विधिमीमांसा का निरूपण समाप्त हुआ।

—०❀०—

[२] मन्त्रमीमांसा।

प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः। तेषां च तादृशार्थस्मारकत्वेनैवार्थवत्त्वम्। न तु तदुच्चारणमदृष्टार्थं सम्भवति, दृष्टफलकत्वेऽदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। न च दृष्टस्यार्थस्मरणस्य प्रकारान्तरेणापि सम्भवान्मन्त्राम्नानं व्यर्थमिति वाच्यम्? मन्त्रैरेव स्मर्तव्यमिति नियमविध्याश्रयणात्।

नानासाधनसाध्यक्रियायामेकसाधनप्राप्तावप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापकः विधिर्नियमविधिः। यथाऽऽहुः 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।

मन्त्रलक्षणमाह प्रयोगेति। प्रयोगसमवेता येऽर्थास्तान् स्मारयन्तीति भावः। इष्टार्थस्मरणस्यान्यथासिद्धिं निराकरोति मन्त्रैरेवेति। प्रसङ्गात् नियमविधिं लक्षयति नानासाधनेति। अभियुक्तोक्त्या प्रमाणयति यथाऽऽहुरिति। उदाहरति

मन्त्रमीमांसा।

प्रयोग में समवाय (नित्य) सम्बन्ध से रहने वाले अर्थों के स्मारक को मन्त्र कहते हैं। उन अर्थों के स्मारक होने से ही मन्त्र भी अर्थवान् होते हैं।

प्रश्न— प्रयोगसमवेत अर्थों के स्मारक होने से ही मन्त्र प्रयोजनवान् होते हैं यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि मन्त्रों का उच्चारण अदृष्ट अर्थ के लिये भी हो सकता है?

उत्तर— दृष्टफल की सम्भावना रहते अदृष्टफल की कल्पना अनुचित होती है।

प्रश्न— देवता आदि रूपी अर्थ का स्मरणरूप दृष्टफल तो ब्राह्मणवाक्यआदि से भी बन सकता है, पुनः मन्त्रोच्चारण का यदि अदृष्टफल नहीं मानते तो वह सर्वथा व्यर्थ ही हो जायगा।

उत्तर— 'मन्त्रैरेव'''मन्त्रों से ही अर्थ का स्मरण करना' इस नियमविधि से अर्थस्मरण के लिये मन्त्रोच्चारण के अतिरिक्त साधन उचित नहीं।

नियमविधि का लक्षण।

विविधसाधनों से साध्य क्रिया में एकसाधन की प्राप्ति रहते दूसरे साधन को प्राप्त कराने वाले विधि को नियमविधि कहते हैं। जैसे कहा है—विधिः इत्यादि। इस कारिका का अर्थ—दूसरे प्रमाण से अप्राप्त को प्राप्त कराने वाले

तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते' इति। अस्यार्थः—प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य प्रापको विधिरपूर्वविधिः, यथा—'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिः, स्वर्गार्थकयागस्य प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्यानेन विधानात्। पक्षेऽप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः। यथा 'व्रीहीनवहन्ति' इत्यादिः। कथमस्य पक्षेऽप्राप्तप्रापकत्वमिति चेत्? इत्थम्, अनेन ह्यवघातस्य वैतुष्यार्थत्वं न प्रतिपाद्यते; अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्, किन्तु नियमः, स चाप्राप्तांशपूरणम्। वैतुष्यस्य हि नानोपायसाध्यत्वाद्यदावघातं परित्यज्य उपायान्तरं ग्रहीतुमारभते, तदावघातस्याप्राप्तत्वेन तद्विधाननामकमप्राप्तांशपूरणमेवानेन विधिना क्रियते। अतश्च नियमविधावप्राप्तांशपूरणात्मको नियम एव वाक्यार्थः। पक्षेऽप्राप्तावघातस्य विधानमिति यावत्।

व्रीहीनिति। अप्राप्तप्रापकत्वमुपपादयति अनेनेति। कारिकोक्तिप्रसङ्गात् समा-

---

विधि को अपूर्वविधि कहते हैं, जैसे–'यजेत स्वर्गकामः स्वर्गाभिलाषी व्यक्ति यज्ञ करे' यहाँ पर स्वर्गार्थकयाग किसी दूसरे प्रमाण से प्राप्त नहीं था उसका विधान किया गया।

पक्ष में अप्राप्त के प्रापक विधि को नियमविधि कहते हैं। जैसे 'व्रीहीन्…' इत्यादि।

प्रश्न—यह नियमविधि पक्ष में अप्राप्त का प्रापक कैसे?

उत्तर—इस वाक्यद्वारा वैतुष्य (टूंडों का टूटना) के लिये अवघात (कूटना) नहीं कहा जाता क्योंकि वह अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध है। किन्तु नियम का प्रतिपादन करता है। वह है अप्राप्तअंश की पूर्त्ति। नाना उपायों से वैतुष्य सिद्ध हो सकता है, अतः जब अवघात को छोड़ कर दूसरा उपाय पकड़ना चाहते हैं उस समय अवघात प्राप्त नहीं रहता, अतः उस (अवघात) का विधान ही यहाँ पर अप्राप्तअंश की पूर्ति ही इस विधि से की जाती है।

अतः अप्राप्तअंश की पूर्त्तिस्वरूप नियम ही इस नियमविधि में वाक्यार्थ होता है। अर्थात् पक्ष में अप्राप्तअवघात का विधान।

उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः। यथा—'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इति। इदं हि वाक्यं न पञ्चनखभक्षणपरं, तस्य रागतः प्राप्तत्वात्; नापि नियमपरं, पञ्चनखापञ्चनखभक्षणस्य युगपत्प्राप्तेः पक्षेऽप्राप्त्यभावात्। अत इदमपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरमिति भवति परिसंख्याविधिः।

सा च द्विविधा—श्रौती लाक्षणिकी चेति। तत्र 'अत्र ह्येवावयन्ति' इति श्रौती परिसंख्या। एवकारेण पवमानातिरिक्तस्तोत्रव्यावृत्तेरभिधानात्। 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इति तु लाक्षणिकी; इतरनिवृत्तिवाचकपदाभावात्।

यातम् परिसङ्ख्याविधिं लक्षयति उभयोश्चेति। उदाहरति यथेति। विस्पष्टयति इदं हीति। रागत इति। अत एव

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥

इति रागप्राप्तनिवृत्तिमाहात्म्यमेव शास्त्रेषु गीयते। परिसङ्ख्यां विभजते सा चेति। लाक्षणिकीति। इतरनिवृत्तिवाचकपदाभावेऽपि तादृशार्थपरत्वमत्र लक्षणयैवेतिभावः। प्राप्तबाध-स्वार्थत्याग-परार्थकल्पना अत्र भवन्ति।

परिसंख्याविधि—दोनों की एक साथ प्राप्ति होने पर इतर (अन्य) की व्यावृत्ति करने वाले विधि को परिसंख्या कहते हैं। जैसे 'पञ्च…' यह वाक्य पञ्चनख (पाँच नाखून वाले) के भक्षण का विधान नही करता क्योंकि वह तो रागतः (इच्छा से) प्राप्त है, नियमपर भी नहीं, क्योंकि पञ्चनख तथा अपञ्चनख दोनों का भक्षण साथ ही (एककाल में ही) प्राप्त है, पक्ष में उसकी अप्राप्ति नहीं, अतः यह अपञ्चनख (जिन्हें पांच नाखून न हों) के भक्षण की निवृत्तिपरकवाक्य माना जायगा इसे ही परिसंख्याविधि कहते हैं।

वह दो प्रकार की होती है श्रौती तथा लाक्षणिकी। जैसे 'अत्र हि…' इस में एवकार से पवमान के अतिरिक्त स्तोत्र की व्यावृत्ति कही जाने से श्रौती परिसंख्या होती है, अन्य की निवृत्ति के वाचकपद के न रहने से 'पञ्च पञ्च…' यहाँ पर लाक्षणिकी मानी जाती है।

अत एवैषा त्रिदोषग्रस्ता । दोषत्रयं च श्रुतहानिः, अश्रुतकल्पना, प्राप्तबाधश्चेति । तदुक्तम्—'श्रुतार्थस्य परित्यागादश्रुतार्थप्रकल्पनम् । प्राप्तस्य बाधादित्येवं परिसंख्या त्रिदूषणा' इति; श्रुतस्य पञ्चनखभक्षणस्य हानात्, अश्रुताऽपञ्चनखभक्षणनिवृत्तेः कल्पनात्, प्राप्तस्य चापञ्चनखभक्षणस्य बाधनादिति। अस्मिंश्च दोषत्रये दोषद्वयं शब्दनिष्ठम्। प्राप्तबाधस्त्वर्थनिष्ठ इति दिक्। येषां तु प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वं न संभवति तदुच्चारणस्यानन्यगत्याऽदृष्टार्थकत्वं कल्प्यत इति नानर्थक्यमिति ।

इति मन्त्रमीमांसा ।

ननु प्रयोगसमवेतार्थस्मारका एव यदि मन्त्रास्तदाऽनीदृशेषु कथं तत्त्वमित्याशङ्कामपनुदति मन्त्रमीमांसामुपसंहरन् येषां त्विति ।

इसी लिये यह त्रिदोष से ग्रस्त होती है । वे तीनों दोष—श्रुतहानि, अश्रुतकल्पना तथा प्राप्तबाध हैं । इसी बात को कारिका में स्पष्ट किया है ।

श्रुतअर्थ के परित्याग, अश्रुतअर्थ की कल्पना तथा प्राप्त के बाध से परिसंख्या त्रिदोषयुक्त कही जाती है । श्रुत पञ्चनखभक्षण के त्याग, अश्रुत अपञ्चनखभक्षण की निवृत्ति की कल्पना से तथा प्राप्त अपञ्चनखभक्षण के बाध से दोषत्रय स्पष्ट हो जाते हैं । इन दोषों में दो तो शब्द में तथा प्राप्तबाध नामक तीसरा अर्थनिष्ठ (अर्थ में रहने वाला) होता है ।

प्रश्न—प्रयोगसमवेतअर्थों के स्मारक होनेसे ही मन्त्रों में सार्थकताकी बात कही जा चुकी है, हुंफट् आदि मन्त्रों में तो वह बात नहीं मिलती पुनः उनकी सार्थकता कैसे ?

उत्तर—कोई दूसरी गति न रहनेके कारण ऐसे मन्त्रों का उच्चारण अदृष्ट-अर्थके लिये मान लिया जायगा अतः वे अनर्थक नहीं ।

[३] नामधेयमीमांसा

नामधेयानां च विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वम्। तथा हि–'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्यत्रोद्भिच्छब्दो यागनामधेयम्, तेन च विधेयार्थ-परिच्छेदः क्रियते। तथा हि–अनेन वाक्येनाप्राप्तत्वात्फलोद्देशेन यागो विधीयते। यागसामान्यस्याविधेयत्वात् यागविशेष एव विधीयते। तत्र कोऽसौ यागविशेष इत्यपेक्षायामुद्भिच्छब्दादुद्भिद्रूपो याग इति ज्ञायते। उद्भिदा यागेन पशुं भावयेदित्यत्र सामानाधिकरण्येन नामधेयान्वयात्।

नामधेयत्वं च निमित्तचतुष्टयात्। मत्वर्थलक्षणाभयात्, वाक्यभेद-भयात्, तत्प्रख्यशास्त्रात्, तद्व्यपदेशाच्चेति। तत्र 'उद्भिदा यजेत पशु-कामः' इत्यत्र 'उद्भित्'शब्दस्य यागनामधेयत्वं मत्वर्थलक्षणाभयात्। तथा

प्रधानक्रमप्राप्तां नामधेयमीमांसां व्याचष्टे नामधेयानामिति। उदाहरति तथाहीति। उद्भिच्छब्दस्य यागनामधेयतां साधयति अनेनेति। सामानाधिकर-ण्येन=उद्भिन्नामकेन यागेनेत्यर्थः।

नामधेयत्वसम्पादिकां निमित्तचतुष्टयीं निरूपयति नामधेयत्त्वमिति। प्रथममुदाहरति तत्रेति।

नामधेयमीमांसा।

विजातीयके व्यावर्त्तक तथा विधेयअर्थके निश्चायक होनेसे नामधेयमन्त्र सप्रयोजन सिद्ध होते हैं। जैसे 'उद्भिदा……' यहाँ पर उद्भिद्शब्द यागका नाम है, उससे विधेयअर्थका परिच्छेद करते हैं। इस वाक्यसे अप्राप्त होनेके कारण पशुरूपफलके उद्देशसे यागविशेषका विधान होता है। वह कौनसा याग-विशेष है इस अपेक्षामें उद्भिद्शब्दसे उद्भिद्रूपयाग है ऐसा जाना जाता है। उद्भिन्नामकयागसे पशुकी भावना करे यहाँपर धात्वर्थसामानाधिकरण्यसे नामधेय (उद्भिद्) का अन्वय होता है।

चार निमित्तों से नामधेयता बनती है, मत्वर्थलक्षणा के भय से, वाक्यभेद के भय से, तत्प्रख्यशास्त्र से, तथा तद्व्यपदेश से।

'उद्भिदा यजेत…' यहाँपर उद्भिद्शब्द को यागविशेष की संज्ञा प्राप्त होती है मत्वर्थलक्षणा के भय से। तथाहि—इसवाक्य से फल के प्रति यागका विधान,

हि न तावदनेन वाक्येन फलं प्रति यागविधानम्, तं प्रति च गुणविधानं युज्यते, वाक्यभेदापत्तेः। उद्भिच्छब्दस्य गुणसमर्पकत्वे च यागस्याप्यप्राप्तत्वात् गुणविशिष्टकर्मविधानं वाच्यम्। उद्भिद्वता यागेन पशुं भावयेदिति विशिष्टविधौ च मत्वर्थलक्षणेत्युक्तमेव।

'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यत्र चित्राशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं वाक्यभेदभयात्। तथा हि न तावदत्र गुणविशिष्टयागविधानं सम्भवति। 'दधि मधु पयो घृतं धाना उदकं तण्डुलास्तत्संसृष्टं प्राजापत्यम्' इत्यनेन गुणस्य विहितत्वात्तद्विशिष्टयागविध्यनुपपत्तेः। यागस्य फलसम्बन्धे गुणसम्बन्धे च विधीयमाने वाक्यभेदः। तस्माच्चित्राशब्दः कर्मनामधेयम्। तथा च चित्रायागेन पशुं भावयेदिति सामानाधिकरण्येनान्वयान्न वाक्य-

---

मत्वर्थलक्षणापत्तिमेव स्फुटयति उद्भिद्वता यागेनेति।

द्वितीयमुदाहरति चित्रयेति। वाक्यभेदभयं विशदयति तथाहीति। वाक्यभेदम् परिहृत्य कर्मनामधेयतया सामानाधिकरण्येन बोधमुपपादयति तथाचेति।

याग के प्रति गुण का विधान मानना युक्त नहीं, क्योंकि ऐसी स्थिति में वाक्यभेददोष आजायगा। उद्भिद्शब्द को केवलगुणसमर्पक (विधायक) मानलें तो याग भी अप्राप्त होजायगा, अतः गुणविशिष्टकर्म का विधान मानना होगा, उद्भिद्वान् याग से पशु की भावना करे ऐसी विशिष्टविधि में तो मत्वर्थलक्षणा कही ही जा चुकी है।

'चित्रया यजेत……' यहाँपर चित्राशब्द कर्मनामधेय है, वाक्यभेद के भय से। तथाहि—यहाँपर गुणविशिष्टयाग का विधान सम्भव नहीं, क्योंकि 'दधिमधु……'इस से गुण का विधान हो जाने से गुणविशिष्टयागका विधान नहीं बनेगा। अगर यह कहा जाय कि यागके फलसम्बन्ध तथा गुणसम्बन्ध दोनों का विधान मान लेंगे तो वाक्यभेद हो जायगा। अतः चित्राशब्द कर्मनामधेय होता है। तथा च चित्रायाग से पशु की भावना करे इस तरह सामानाधिकरण्येन अन्वय हो जाने से वाक्यभेददोष नहीं लगेगा।

भेदः। प्रकृतेष्टेरनेकद्रव्यत्वेन चित्राशब्दवाच्यत्वोपपत्तिः।

'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यत्राग्निहोत्रशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं तत्प्रख्यशास्त्रात्। तस्य गुणस्य प्रख्यापकस्य प्रापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वात्, अग्निहोत्रशब्दः कर्मनामधेयमिति यावत्। नन्वयं गुणविधिरेव कुतो न? इति चेत् न; यद्यग्नौ होत्रमस्मिन्निति सप्तमीसमासमाश्रित्य होमाधारत्वेनाग्निरूपो गुणो विधेयस्तदा 'यदाहवनीये जुहोति' इत्यनेनैवाग्नेः प्राप्तत्वात्तद्विधानानर्थक्यम्। अग्नये होत्रमिति चतुर्थीसमासमाश्रित्य अग्निदेवतारूपगुणोऽनेन विधीयत इति चेत्? न; तद्देवतायाः शास्त्रान्तरेण प्राप्तत्वात्।

तृतीयमुदाहरति अग्निहोत्रमिति। तत्प्रख्यशास्त्रप्रवृत्तिमुपपादयति तस्येति। अग्नौ होत्रमिति। वैदिकप्रकरणे 'तृतीया च होश्छन्दसि' इति सूत्रे भगवतः पाणिनेस्तात्पर्यप्रसङ्गेन यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोतीत्यत्र 'यस्याग्निहोत्रममेध्यमापद्येत, इत्यादिप्रयोगदर्शनात् अग्नये हूयते इत्यग्निहोत्रमित्यादिव्युत्पत्त्या अग्निहोत्रशब्दो हविर्बोधकः जुहोतिश्च प्रक्षेपणार्थः, यवाग्वाख्यं हविर्देवतोद्देशेन त्यक्त्वा प्रक्षिपतीत्यर्थः। भिन्नविभक्त्यवरुद्धत्वेऽपि भिन्नार्थकविभक्त्यनवरुद्धत्वान्नामार्थयोरभेदान्वयः।

यह याग भी दधि मधु आदि अनेक विचित्रप्रकार के द्रव्यों से होता है, अतः इसका नाम चित्रायाग भी ठीक बना।

'अग्निहोत्रं…' यहाँ पर अग्निहोत्रशब्द तत्प्रख्यशास्त्र से कर्मनामधेय होता है, क्योंकि उसके गुण का प्रख्यापक (प्राप्त करानेवाला) शास्त्र वर्त्तमान है।

प्रश्न—इसे गुणविधि ही मान लें क्या हानि ?

उत्तर—यदि 'अग्नौ होत्रम् अस्मिन्' इस सप्तमीसमास से होमाधार होने अग्निरूपगुण का विधान हो तो 'यदाहवनीये…' इसी से अग्नि प्राप्त रहता पुनः उसका विधान व्यर्थ हो जायगा। यदि 'अग्नये होत्रम्' इस चतुर्थीसमास अग्निदेवतारूप गुण का विधान इससे माना जाय तो यह भी सम्भव न क्योंकि वह देवता भी शास्त्रान्तर से प्राप्त है।

किं तच्छास्त्रान्तरमिति चेत् ? 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' इति केचित्। अपरे तु 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' इति मन्त्रवर्ण एवाग्निरूपदेवताप्रापकः। नन्वग्नेर्मान्त्रवर्णिकत्वे प्रजापतिदेवतया बाधः स्यात्; मन्त्रवर्णस्य चतुर्थीतो दुर्बलत्वात्। यथाऽऽहुः—'तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः। देवताया विधिस्तत्र दुर्बलं तु परं परम्'इति चेत् ? न, 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' इत्यत्र न केवलं प्रजापतिविधानम्, किन्तु मन्त्रवर्णप्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितप्रजापतेः। एवं च न बाधः, केवलप्रजापतिविधानाभावात्। न चात्र समुच्चितोभयविधानमेव कथं नेति वाच्यम् ? समुच्चितोभयविधानापेक्षयान्यतः प्राप्त-

---

पातञ्जले महाभाष्ये तु अग्निहोत्रशब्दोऽग्नावपि वर्तते 'यस्याग्निहोत्रं प्रज्वलितम्' इत्यादिदर्शनात्, हूयतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्तेश्च। तथा च यदा यवागूशब्दात् तृतीया तदाग्निहोत्रशब्दोऽग्नौ वर्त्तते जुहोतिश्च पीडने, यवावाऽग्निम् प्रीणयतीत्यर्थ इत्यलम्।

बाधम् परिहरति चेत् नेति। तत्प्रख्यशास्त्रात् कर्मनामधेयत्वे उदाहरणान्तर-

---

प्रश्न—वह दूसरा कौन सा शास्त्र है ?

उत्तर—कोई कहते हैं कि 'यदग्नये···' यह मन्त्र। कुछ लोग कहते हैं कि 'अग्निर्ज्योतिः···' यह मन्त्राक्षर ही अग्निरूपदेवता का प्रापक है।

प्रश्न—अग्नि को मन्त्रवर्णसम्बन्धी मानने पर प्रजापतिदेवता से उसका बाध हो जायगा, क्योंकि मन्त्रवर्ण चतुर्थी से दुर्बल होता है, जैसे कहा भी है कि 'तद्धित से, चतुर्थीविभक्ति से अथवा मन्त्रवर्ण से जहाँ पर देवता की विधि हो वहाँ 'पर' को दुर्बल जानना चाहिये।

उत्तर—'यदग्नये···' इस मन्त्र में केवलप्रजापति का विधान नहीं, किन्तु मन्त्रवर्ण से प्राप्त अग्निका अनुवाद करके तद्विशिष्टप्रजापति का। इस प्रकार केवलप्रजापति का विधान न होने से बाध भी न होगा।

प्रश्न—यहाँ पर समुच्चितउभय (दोनों) का विधान ही क्यों न माना जाय ?

उत्तर—समुच्चितउभयविधान की अपेक्षा अन्य से प्राप्त अग्नि का अनुवाद

मग्निमनूद्य तत्समुच्चितप्रजापतिमात्रविधाने लाघवात् । एवं प्रयाजेषु समिदादिदेवतानां 'समिधः समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु' इत्यादिमन्त्र-वर्णेभ्यः प्राप्तत्वात् । 'समिधो यजति' इत्यादिषु समिदादिशब्दास्तत्प्रख्य-शास्त्रात्कर्मनामधेयम् ।

'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इत्यत्र श्येनशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं तद्व्य-पदेशात् । तेन व्यपदेशादुपमानात्तदन्यथानुपपत्तेरिति यावत् । तथा हि—यद्विधेयं तस्य स्तुतिर्भवति । यद्यत्र श्येनो विधेयः स्यात्, तदार्थवादै-स्तस्यैव स्तुतिः कार्या । अत्र 'यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते' इत्यनेनार्थवादेन श्येनः स्तोतुं न शक्यः, श्येनोप-मानेनार्थान्तरस्तुतेः क्रियमाणत्वात् । न च श्येनोपमानत्वेन स एव स्तोतुं

मप्याह एवमिति । आदिना तनूनपात्प्रभृतयो ग्राह्याः ।

चतुर्थं निरूपयति श्येनेनेति । तृतीयातत्पुरुषं स्पष्टयति तेनेति । उपपत्तिमाह तथाहीति । भिन्ननिष्ठत्वादिति । सादृश्यस्य प्रतियोग्यनुयोग्युभयनिरूप्यतया चन्द्रवन्मुखमित्यादौ उपमानं चन्द्रः उपमेयं च मुखम्, चन्द्रप्रतियोगिकं यत्सादृश्यं तदाश्रयो मुखमिति बोधः । अधिकन्तु मया स्वीयपरिष्कारदर्पणग्रन्थे सादृश्य-शास्त्रार्थकलायां च निरूपितमिति जिज्ञासुभिस्तत एव ग्राह्यम् ।

करके तत्समुच्चित प्रजापतिमात्र के विधान में लाघव है ।

इसी प्रकार प्रयाजों में समिध् आदि देवताओं के 'समिधः···' इत्यादि मन्त्रवर्णों से प्राप्त होने से 'समिधो यजति' इत्यादि में समिध आदिशब्द तत्प्र-ख्यशास्त्र से कर्मनामधेय माने जाते हैं ।

श्येनेनाभि···' यहाँ पर श्येनशब्द तद्व्यपदेश से कर्मनामधेय होता है । 'तेन व्यपदेशः तद्व्यपदेशस्तस्मात्' उसकी अन्यथा अनुपपत्ति से । तथाहि—जो विधेय होता है उसी की स्तुति होती है, अगर प्रकृति में श्येन ही विधेय हो तो उस की ही स्तुति अर्थवादों से करनी चाहिये । 'यथा वै श्येनः···' इस अर्थवाद से श्येन की स्तुति नहीं कर सकते, क्योंकि श्येन के उपमान से अन्य अर्थ की स्तुति ही की जा रही है । उपमान तथा उपमेय स्वभावतः परस्पर

शक्यते, उपमानोपमेयभावस्य भिन्ननिष्ठत्वात्। यदा तु श्येनसंज्ञको यागो विधीयते तदार्थवादेन श्येनोपमानेन तस्य स्तुतिः कर्तुं शक्यत इति श्येनशब्दः कर्मनामधेयं तद्व्यपदेशादिति।

उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वमपि पञ्चमं नामधेयनिमित्तमिति केचित्। यथा 'वैश्वदेवेन यजेत' इत्यादौ। अत्रोत्पत्तिशिष्टाग्न्यादीनां बलीयस्त्वाद्वैश्वदेवशब्दस्य विश्वदेवदेवताभिधायकत्वं न सम्भवतीति कर्मनामधेयत्वम्।

वस्तुतस्तु तत्प्रख्यशास्त्रादेवास्य कर्मनामधेयत्वं, प्रकृतयागे विश्वदेवरूपगुणसम्प्रतिपन्नशास्त्रस्यार्थवादरूपस्यैव सत्त्वात्। 'यद्विश्वेदेवाः समयजन्त तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्' इति।

इति नामधेयमीमांसा

केषांचिन्मतमाह उत्पत्तिशिष्टेति। उदाहरति यथेति। कर्मनामधेयत्वमुपपादयति अत्रोत्पत्तीति। सिद्धान्तमाह वस्तुतस्त्विति।

भिन्न होते हैं अतः श्येनोपमान से श्येन की ही स्तुति हो रही है यह कह ही नहीं सकते। जब श्येननामकयाग का विधान करते हैं तब तो अर्थवाद से श्येनोपमान से उसकी स्तुति कर सकते हैं। इस प्रकार तद्व्यपदेश से श्येनशब्द कर्मनामधेय हो जाता है।

किसी का मत है कि जैसे नामधेय के पूर्वोक्त चार निमित्त होते हैं वैसे ही उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व नाम का एक पाँचवाँ निमित्त भी होता है। जैसे 'वैश्वदेवेन…' इत्यादि में। यहाँ पर उत्पत्तिशिष्ट अग्नि आदि के अत्यन्त बली होने से वैश्वदेवशब्द विश्वदेवता का अभिधायक (वाचक) सम्भव नहीं किन्तु कर्मनामधेय है।

वस्तुतः तत्प्रख्यशास्त्र से ही यह कर्मनामधेय हो जायगा क्योंकि प्रकृतयाग में विश्वदेवरूपगुण से सम्प्रतिपन्न अर्थवादरूप शास्त्र मिलता ही है 'यद् विश्वेदेवाः…' इत्यादि।

[४] निषेधमीमांसा

पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः, निषेधवाक्यानामनर्थहेतुक्रिया-निवृत्तिजनकत्वेनैवार्थवत्त्वात्। तथा हि-यथा विधिः प्रवर्तनां प्रतिपादयन् स्वप्रवर्तकत्वनिर्वाहार्थं विधेयस्य यागादेरिष्टसाधनत्वमाक्षिपन्पुरुषं तत्र प्रवर्तयति, तथा 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादिनिषेधोऽपि निवर्तनां प्रतिपादयन्स्वनिवर्तकत्वनिर्वाहार्थं निषेध्यस्य कलञ्जभक्षणस्य परानिष्टसाधनत्वमाक्षिपन्पुरुषं ततो निवर्तयति।

निषेधमीमांसां लक्षयति पुरुषस्येति। निषेधवाक्यानां कथमर्थवत्त्वमिति शङ्कां निरस्यति निषेधवाक्यानामिति। उपपादयति तथाहीति। कलञ्जभक्षण-निषेधे हेतुं रचयति परानिष्टसाधनत्वमिति।

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्त्तिताः॥

इति न्यायेन नञर्थस्याभावस्य धात्वर्थेनाव्यवधानेऽपि धात्वर्थस्य प्रत्य-

---

निषेधमीमांसा

पुरुष का निवर्त्तक (रोकने वाला) वाक्य ही निषेध कहलाता है। अनर्थ में कारण जो क्रिया उस से निवृत्त कराने के कारण ही निषेधवाक्य सार्थक होते हैं। तथाहि—जैसे विधिवाक्य प्रवृत्ति का प्रतिपादन करता हुआ अपनी प्रवर्त्तकता के निर्वाह के लिये विधेय याग आदि की इष्टसाधनता का आक्षेप करता हुआ पुरुष को उसमें प्रवृत्त कराता है, उसी प्रकार 'न कलञ्जभ...' इत्यादि निषेधवाक्य भी निवृत्ति का प्रतिपादन करता हुआ अपनी निवर्त्तकता के निर्वाह के लिए निषेध्यकलञ्जभक्षण की अत्यन्त अनिष्टसाधनता का आक्षेप कराता हुआ पुरुष को उससे निवृत्त कराता है।

ननु निषेधवाक्यस्य कथं निवर्तनाप्रतिपादकत्वमिति चेत् ? उच्यते— न तावदत्र धात्वर्थस्य नञर्थेनान्वयः, अव्यवधानेऽपि तस्य प्रत्ययार्थभावनोपसर्जनत्वेनोपस्थितेः । न ह्यन्योपसर्जनत्वेनोपस्थितमन्यत्रान्वेति; अन्यथा राजपुरुषमानयेत्यादावपि राज्ञः क्रियान्वयापत्तेः । अतः प्रत्ययार्थस्यैव नञर्थेनान्वयः । तत्रापि नाख्यातत्वांशवाच्यार्थभावनायास्तस्या लिङंशवाच्यप्रवर्तनोपसर्जनत्वेनोपस्थितेः, किन्तु लिङंशवाच्यशब्दभावनायाः, तस्याः सर्वापेक्षया प्रधानत्वात् ।

नञश्चैष स्वभावो यत्स्वसमभिव्याहृतपदार्थविरोधिबोधकत्वम् । यथा घटो नास्तीत्यादौ अस्तीतिशब्दसमभिव्याहृतो नञ् घटसत्त्वविरोधि

यार्थभावनोपसर्जनतया समुपस्थितत्वात् कथमन्वय इत्याशङ्कते नन्विति । उपसर्जनमिह विशेषणम् । इतरविशेषणतयोपस्थितस्यान्यत्रान्वये दोषमाह अन्यथेति । परिशेषादाह अत इति । समभिव्याहारश्च अव्यवहितपूर्वत्वाव्यवहितोत्तर-

---

प्रश्न—निषेधवाक्य निवृत्ति के प्रतिपादक कैसे होते हैं ?

उत्तर— ऐसे स्थलोंमें धात्वर्थका नञर्थ के साथ अन्वय नहीं होता, क्योंकि धात्वर्थ तथा नञर्थ के बीच में व्यवधान न रहनेपर भी प्रत्ययार्थ जो भावना उस के उपसर्जनरूप से ही उसकी उपस्थिति होगी । दूसरे का उपसर्जन होता हुआ दूसरे में अन्वित हो ऐसा तो सम्भव ही नहीं, अन्यथा 'राजपुरुषम्…' यहाँपर राजा का क्रिया में अन्वय होने लग जायगा । अतः प्रत्ययार्थ का ही नञर्थ के साथ अन्वय होता है ।

प्रत्ययार्थ भी दो प्रकार का कह चुके हैं, अर्थभावना तथा शब्दभावना । उन में लिङंश का वाच्य जो प्रवर्त्तना उस के उपसर्जनरूप से उपस्थित होने के कारण अर्थभावना का नञर्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकता, किन्तु सब की अपेक्षा प्रधान होने के कारण लिङंशवाच्य जो शब्दभावना उसी का अन्वय होता है ।

नञ् का यह स्वभाव होता है कि वह अपने समभिव्याहार (अव्यवहितपूर्व अथवा अव्यवहित पर) में आये हुये पदार्थ के विरोधी का बोध कराना । जैसे 'घटो नास्ति' यहाँपर अस्तिशब्द के समभिव्याहृत जो नञ् वह घटसत्ता की

घटासत्त्वं गमयति, तदिह लिङ्समभिव्याहृतो नञ् लिङर्थप्रवर्तना-विरोधिनीं निवर्तनामेव बोधयति। विधिवाक्यश्रवणेऽयं मां प्रवर्तयतीति प्रतीतेः। तस्मान्निषेधवाक्यस्थले निवर्तनैव वाक्यार्थः। यदा तु प्रत्ययार्थस्य तत्रान्वये बाधकं तदा धात्वर्थस्यैव तत्रान्वयः।

तच्च बाधकं द्विविधम्—तस्य व्रतमित्युपक्रमो विकल्पप्रसक्तिश्च। तत्राद्यं 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इत्यादौ 'तस्य व्रतम्' इत्युपक्रम्यैतद्वाक्य-पाठात्। तथाचात्र पर्युदासाश्रयणम्। तथा हि—व्रतशब्दस्य कर्तव्यार्थे रूढत्वात्तस्य व्रतमित्यत्र स्नातकस्य व्रतानां कर्तव्यत्वेनोपक्रमात्। किं तत्कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायां 'नेक्षेतोद्यन्तम्'इत्यादिना कर्तव्यार्थ एव प्रति-

---

त्वान्यतरसम्बन्धेन। फलितमाह तस्मादिति। सति बाधकेऽन्यथापीत्याह यदा त्विति। बाधकं निरूपयति·तच्चेति। ब्रह्मचारिनियमनिरूपणे भगवतो मनोः "नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन।"

इत्यादि वाक्यबलमाह एतद्वाक्यपाठादिति। शास्त्रार्थमुपसं-

विरोधिनी घटासत्ता (घटाभाव) का बोधक होता है। इसीप्रकार निषेधवाक्य-स्थल में भी लिङ् से समभिव्याहृत जो नञ् वह लिङर्थ प्रवर्त्तना की विरोधिनी जो निवर्त्तना (निवृत्ति) उसका बोधक होता है। क्योंकि विधिवाक्य के श्रवण के बाद 'यह मुझे प्रवृत्त करा रहा है' ऐसी प्रतीति होती है। तस्मात् निषेधवाक्य-स्थलमें निवर्त्तना ही वाक्यार्थ है। जब प्रत्ययार्थ का अन्वय उस में बाधित हो तो धात्वर्थ का ही अन्वय जानना चाहिये।

बाधक भी दो प्रकारका होता है—यह उसका व्रत है तथा विकल्प की प्रसक्ति। स्नातक का व्रत बतलाते हुये बीच में ही कहा कि 'नेक्षेत···' अर्थात् उदयकाल में सूर्य को न देखे' यह प्रथम का उदाहरण हुआ। तथा च यहाँ पर पर्युदास का ही आश्रयण होता है। क्योंकि व्रतशब्द के कर्त्तव्य अर्थ में रूढ होने से स्नातक के व्रतों का कर्त्तव्यत्वेन उपक्रम हुआ। वह कौन सा कर्तव्य है? इस आकाङ्क्षा में 'नेक्षेत··' इत्यादि से कर्त्तव्य अर्थ का प्रतिपादन करना

पादनीयः। अन्यथा पूर्वोत्तरवाक्ययोरेकवाक्यत्वं न स्यात्। तथा च नञर्थेन न प्रत्ययार्थान्वयः कर्तव्यार्थानवबोधात्। विध्यर्थप्रवर्तनाविरोधि-निवर्तनाया एव तादृशनञा बोधनात्, तस्याश्च कर्तव्यार्थत्वाभावात्। तस्मात् 'नेक्षेत' इत्यत्र नञा धात्वर्थविरोध्यनीक्षणसंकल्प एव लक्षणया प्रतिपाद्यते; तस्य कर्तव्यत्वसंभवात्।

आदित्यविषयकानीक्षणसंकल्पेन भावयेदिति वाक्यार्थः। तत्र भाव्याकाङ्क्षायाम् 'एतावता हैनसा वियुक्तो भवति' इति वाक्यशेषाव-गतः पापक्षयो भाव्यतयान्वेति। एवं च पूर्वोत्तरयोरेकवाक्यत्वं निर्वहत्येव।

न चात्र धात्वर्थविरोधिनः पदार्थान्तरस्यापि सम्भवात्कथमनीक्षण-सङ्कल्पस्यैव भावनान्वय इति वाच्यम्? तस्य कर्तव्यताभावेन प्रकृते

हरति तस्मादिति। पर्युदासपक्षे वाक्यार्थमाह आदित्येति। कर्त्तव्यत्वा-भावेन = सर्वक्रियाऽविनाभूतत्वासम्भवेनेत्यर्थः। विकल्पप्रसक्तौ पर्युदासाश्रयणे

चाहिए, अन्यथा पूर्व एवम् उत्तरवाक्यों की एकवाक्यता न हो सकेगी। अतः प्रत्ययार्थ का नञर्थ के साथ अन्वय नहीं अन्यथा कर्त्तव्य अर्थ का बोध ही न होगा।

विधि का अर्थ जो प्रवर्त्तना उस की विरोधिनी जो निवर्त्तना उसी का वैसे नञ् से बोध होगा और वह कर्त्तव्यार्थक नहीं। तस्मात् 'नेक्षेत…' यहाँ पर नञ् से लक्षणा करके धात्वर्थविरोधी जो अनीक्षण (न देखना) उसका सङ्कल्प ही बोध्य होता है, उसमें कर्त्तव्यता का भी सम्भव है। आदित्यविषयक जो अनीक्षण उसके सङ्कल्प से भावना करे यही वाक्यार्थबोध होता है। उसमें भाव्य (फल) की जिज्ञासा होने पर 'एतावता…' इत्यादिवाक्यशेषसे अव-गत पापक्षय ही फलतया अन्वित होता है। इस तरह पूर्वोत्तर वाक्यों की एक-वाक्यता भी बन जाती है।

प्रश्न—यहाँ पर धात्वर्थविरोधी अन्यपदार्थ की भी सम्भावना होने से अनीक्षणसङ्कल्प का ही भावना में अन्वय कैसे?

उत्तर—उस अन्यपदार्थ में कर्तव्यता न रहने के कारण वह प्रकृतभावना

भावनान्वयायोग्यत्वात्। द्वितीयं 'यजतिषु येयजामहं करोति नानुयाजेषु' इत्यादावत्र विकल्पप्रसक्तौ च पर्युदासाश्रयणात्।।

तथा हि—यद्यत्र वाक्ये नञर्थे प्रत्ययार्थान्वयः स्यात्तदा अनुयाजेषु 'येयजामहे' इति मन्त्रस्य प्रतिषेधः स्यात्, अनुयाजेषु येयजामहं न कुर्यादिति। स च प्राप्तिपूर्वक एव, प्राप्तस्यैव प्रतिषेधात्। प्राप्तिश्च 'यजतिषु येयजामहं करोति' इति शास्त्रादेव वाच्या। शास्त्रप्राप्तस्य च प्रतिषेधे विकल्प एव, न तु बाधः। प्राप्तिमूलरागस्येव तन्मूलशास्त्रस्य शास्त्रान्तरेण बाधायोगात्। न च 'पदे जुहोति' इति विशेषशास्त्रेण 'आहवनीये जुहोति' इति शास्त्रस्येव 'नानुयाजेषु' इत्यनेन 'यजतिषु येयजामहं करोति' इत्यस्य बाधः स्यादिति वाच्यम्; परस्परनिरपेक्षयोरेव शास्त्रयोर्बाध्यबाधकभावात्। पदशास्त्रस्य हि स्वार्थविधानार्थ-

---

आह द्वितीयमिति। कथमित्युपपादयति तथाहीति। बाधाभावे युक्तिमाह परस्परनिरपेक्षयोरेवेति। निरपेक्षत्वमुपपादयति पदशास्त्रस्येति।

में अन्वित होने के योग्य नहीं।

द्वितीय 'यजतिषु ये…' इत्यादि में विकल्प की प्राप्ति होने पर पर्युदास का आश्रयण किया जायगा। जैसे इस वाक्य में यदि नञर्थ में प्रत्ययार्थ का अन्वय हो तो अनुयाजों में 'ये यजामहे…' इस मन्त्र का प्रतिषेध हो जायगा कि अनुयाजों में इसे न करे इत्यादि। प्राप्त का ही प्रतिषेध होता है इस न्याय से वह भी प्राप्तिपूर्वक ही होगा। प्राप्ति भी 'यजतिषु…' इस शास्त्र से ही कहनी होगी। शास्त्र से प्राप्त का प्रतिषेध करने में विकल्प ही होता है, बाध नहीं। क्योंकि प्राप्ति के मूलभूत राग (इच्छा) की तरह तन्मूलकशास्त्र का भी दूसरे शास्त्र के द्वारा बाध नहीं हो सकता।

प्रश्न—जैसे 'पदे जु…' इस शास्त्र से 'आहवनीये जु…' इसका बाध होता है वैसे ही 'नानुयाजे…' इससे 'यजतिषु…' इसका बाध हो जायगा?

उत्तर—परस्परनिरपेक्षशास्त्रों का ही बाध्यबाधकभाव माना जाता है, दृष्टान्त में पदशास्त्र अपने अर्थविधान के लिये आहवनीयशास्त्र की अपेक्षा नहीं

माहवनीयशास्त्रानपेक्षणान्निरपेक्षत्वम्। प्रकृते तु निषेधशास्त्रस्य निषेध्य-प्रसक्त्यर्थं 'यजतिषु येयजामह' मित्यस्यापेक्षणान्न निरपेक्षत्वम्।

तस्माच्छास्त्रविहितस्य शास्त्रान्तरेण प्रतिषेधे विकल्प एव; स च न युक्तः, विकल्पे शास्त्रस्य पाक्षिकाप्रामाण्यापातात्। न ह्यनुयाजेषु येयजामहमित्यस्यानुष्ठाने नानुयाजेष्वित्यस्य प्रामाण्यं सम्भवति, व्रीहियागानुष्ठाने यवशास्त्रस्येव। द्विरदृष्टकल्पना च स्यात्, विधिप्रतिषेधयोरपि पुरुषार्थत्वात्, अतो नात्र प्रतिषेधस्याश्रयणम्, किन्तु नञोऽनुयाजसंबन्धमाश्रित्य पर्युदासस्यैव। इत्थं चानुयाजव्यतिरिक्तेषु यजतिषु येयजामह इति मन्त्रं कुर्यादिति वाक्यार्थबोधः, नञोऽनुयाजव्यतिरिक्ते लाक्षणिकत्वात्। एवं च न विकल्पः। अत्र च वाक्ये येयजामह इति न विधीयते, यजतिषु येयजामहमित्यनेनैव प्राप्तत्वात्। किन्तु सामान्य-शास्त्रप्राप्त–येयजामह इत्यनुवादेन।

करता, अतः निरपेक्ष कहा जायगा, परन्तु प्रकृतमें तो निषेध्य की प्रसक्ति के लिये निषेधशास्त्र को 'यजतिषु···' की अपेक्षा करने से निरपेक्षता नहीं बनती।

तस्मात् शास्त्रविहित का दूसरे शास्त्र से प्रतिषेध करने पर विकल्प ही होता है, परन्तु विकल्प मानने पर शास्त्र में पाक्षिक अप्रामाण्य हो जायगा अतः वह युक्त नहीं। व्रीहियाग के अनुष्ठान में यवशास्त्र की तरह अनुयाजों में 'येयजामहम्' इस के अनुष्ठानकाल में 'नानुयाजेषु' इस का प्रामाण्य सम्भव नहीं, साथ ही विधि तथा प्रतिषेध दोनों के ही पुरुषार्थ होने से दो बार अदृष्ट की कल्पना करनी होगी। अतः यहाँ पर प्रतिषेध नहीं माना जा सकता किन्तु नञ् का अनुयाज से सम्बन्ध मान कर पर्युदास ही ठीक है।

तथा च अनुयाजव्यतिरिक्त में नञ् की लक्षणा करने से अनुयाजभिन्न यजति में 'येयजामह' इस मन्त्र को करे ऐसा वाक्यार्थबोध सम्पन्न होगा। इस प्रकार विकल्प भी नहीं।

इस वाक्य में 'ये यजामह' का विधान नहीं क्योंकि यजति में 'ये यजामहम्' इस से ही प्राप्त होगा किन्तु सामान्यशास्त्र से प्राप्त 'ये यजामह' के अनुवाद से

तस्यानुयाजव्यतिरिक्तविषयकत्वं विधीयते । यद्यजतिषु येयजामहं करोति तदनुयाजव्यतिरिक्तेष्विति ।

नन्वेवं सामान्यशास्त्रप्राप्तस्य विशेषे सङ्कोचनरूपादुपसंहारात्पर्युदासस्य भेदो न स्यादिति चेत् ? न; उपसंहारो हि तन्मात्रसङ्कोचार्थः। यथा पुरोडाशं चतुर्धा करोतीतिसामान्यप्राप्तचतुर्धाकरणम् 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' इति विशेषादाग्नेयपुरोडाशमात्रे संकोच्यते। पर्युदासस्तु तदन्यमात्रसङ्कोचार्थ इति ततो भेदात्। कुत्रचिद्विकल्पप्रसक्तावप्यनन्यगत्या प्रतिषेधाश्रयणम्। यथा 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्यादौ। अत्र हि 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति शास्त्रप्राप्तषोडशिग्रहणस्य निषेधाद्वि-

---

सङ्कोच्यसङ्कोचकभावं निर्द्धारयितुपक्षिपति नन्वेवमिति । सामान्यप्राप्तस्य विशेषमात्रसङ्कोचार्थत्वमुपसंहारस्याह नेति । तदन्येति । सामान्यप्राप्तस्य विशेषादन्यमात्रस्य सङ्कोचार्थः पर्युदास इति सुस्पष्टो भेदः। विशेषस्थितिमाह कुत्रचिदिति । अनन्येति । 'कुत्रचिन्न गतिर्यस्य तस्य वाराणसी गतिरि'ति लोकोदाहरणम्। स्वोदाहरणमाह यथेति ।

उस के अनुयाजभिन्नविषयकत्व का विधान किया जाता है 'जो यजति में ये यजामह को करता है वह अनुयाजभिन्नों में'।

प्रश्न—इस प्रकार सामान्यशास्त्र से प्राप्त का विशेषशास्त्र में सङ्कोचरूप उपसंहारपदार्थ से पर्युदास का भेद नहीं होगा ?

उत्तर—उपसंहार केवल तन्मात्र के सङ्कोच के लिये होता है जैसे 'पुरोडाशं चतुर्धा' इस सामान्यशास्त्र से प्राप्त चतुर्धाकरण का 'आग्नेयं चतु···' इस विशेष से आग्नेयपुरोडाशमात्र में सङ्कोच किया जाता है। परन्तु पर्युदास तो उस से भिन्नमात्र के सङ्कोच के लिये होता है। इस प्रकार दोनों का भेद स्पष्ट है।

कहीं पर विकल्प की प्राप्ति रहने पर भी कोई उपाय न रहने के कारण प्रतिषेध मान लिया जाता है। जैसे 'नातिरात्रे···' इत्यादि में। यहाँ पर 'अतिरात्रे षो···' इस शास्त्र से प्राप्तषोडशिग्रहण का निषेध होने पर विकल्प की प्रसक्ति में

कल्पप्रसक्तावपि न पर्युदासाश्रयणम्, असम्भवात्। तथा हि—यद्यत्र षोडशिपदार्थेन नञर्थान्वयस्तदातिरात्रे षोडशिव्यतिरिक्तं गृह्णातीति वाक्यार्थबोधः स्यात्, स च न सम्भवति, 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति प्रत्यक्षविधिविरोधात्। यदि चातिरात्रेण पदार्थेनान्वयस्तदातिरात्रव्यतिरिक्ते षोडशिनं गृह्णातीति वाक्यार्थबोधः स्यात्, सोऽपि न सम्भवति; तद्विधिविरोधात्। अतोऽत्रानन्यगत्या शास्त्रप्राप्तषोडशिग्रहणस्यैव निषेधः। न च विकल्पप्रसक्तिस्तस्याप्यपेक्षणीयत्वात्।

इयांस्तु विशेषः—यद्विकल्पादेकप्रतिषेधेऽपि प्रतिषिध्यमानस्य नानर्थहेतुत्वम्, विधिनिषेधोभयस्यापि क्रत्वर्थत्वात्। यत्र तु न विकल्पः, प्राप्तिश्च रागत एव, प्रतिषेधश्च पुरुषार्थः, तत्र प्रतिषिध्यमानस्यानर्थहेतु-

---

विकल्पप्रसक्तिमिष्टापत्त्या निर्वाहयति नचेति। कलञ्जभक्षणादिवत् अनर्थहेतुत्वात् षोडशिग्रहणस्य प्रतिषेधेऽनर्थ इति समाशङ्कयाह इयाँस्त्विति। भक्षणनिषेधोऽप्यत्र पुरुषार्थ एवेत्याह तत्रेति। निषेधवाक्यानामनर्थहेतुक्रियानिवृत्तिजनकतयापि पुरुषार्थानुबन्धितेति दृष्टान्तद्वारा समर्थयति

भी असम्भव होने से पर्युदास नहीं माना जाता। तथाहि—यदि यहाँ पर नञर्थ का षोडशिपदार्थ के साथ अन्वय होगा तो अतिरात्र में षोडशिव्यतिरिक्त का ग्रहण करता है ऐसा वाक्यार्थबोध होगा, वह सम्भव नहीं, क्योंकि 'अतिरात्रे षो…' इस प्रत्यक्षविधि का विरोध हो जायगा। यदि अतिरात्रपदार्थ के साथ अन्वय करें तो अतिरात्र से भिन्न में षोडशिग्रहण करता है यह बोध होगा, सो भी सम्भव नहीं, क्योंकि उस विधि से विरोध हो जायगा। अतः यहाँ पर कोई दूसरा मार्ग न रहने के कारण शास्त्र से प्राप्त षोडशिग्रहण का ही निषेध माना जायगा। रही बात विकल्प की प्रसक्ति की सो तो इष्ट ही है।

विशेषता इतनी है कि विकल्प से एक का प्रतिषेध हो जाने पर भी जिसका प्रतिषेध किया जा रहा है वह अनर्थ का कारण नहीं बनता क्योंकि विधि, निषेध दोनों याग के लिये होते हैं। जहाँ पर विकल्प नहीं, प्राप्ति राग (इच्छा) से ही है, प्रतिषेध ही पुरुषार्थ है, वहाँ पर प्रतिषिध्यमान (जिसका प्रतिषेध किया जा

त्वम्, यथा 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादौ कलञ्जभक्षणादेः, तत्र भक्षण-निषेधस्यैव पुरुषार्थत्वात्। न च 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' इत्यादौ शास्त्रप्राप्तदानहोमादीनां निषेधाद्विकल्पापत्तिरिति वाच्यम्? स्वतःपुरुषार्थ-भूतदानहोमादीनां निषेधस्य पुरुषार्थत्वाभावेऽपि निषिध्यमानस्यानर्थहेतु-त्वात्, यथा क्रतौ स्वस्त्रीगमनादेः, तन्निषेधस्य क्रत्वर्थत्वेन तस्य क्रतुवै-गुण्यसंपादकत्वात्।

इति निषेधमीमांसा।

---

[५] अर्थवादमीमांसा

प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः। तस्य च लक्षणया प्रयोजन-

---

यथा क्रताविति। कलञ्जभक्षणादिवदनर्थभूतनरकाद्यहेतुत्वेऽपि स्वभार्यागमनादेः क्रतुमध्यकाले क्रतुवैगुण्यसम्पादकतया अनिवार्यतया अनर्थहेतुत्वसम्भव इव प्रकृतेऽपि सम्भवादिति निष्कर्षः।

अर्थवादं लक्षयति प्राशस्त्येति। प्रयोजनवदर्थपर्यवसायित्वं विशदयति तस्य

रहा है) ही अनर्थ का कारण बनता है, जैसे 'न कलञ्जम्...' इत्यादि में कलञ्ज-भक्षणादि। वहाँ पर भक्षण का निषेध ही पुरुषार्थ है।

प्रश्न—'दीक्षितः...' इत्यादि में शास्त्रप्राप्त दानहोमादिका निषेध करने से विकल्प की आपत्ति हो जायगी।

उत्तर—स्वतःपुरुषार्थभूत दानहोमआदि के निषेध को पुरुषार्थ न मानने पर भी निषिध्यमान (जिसका निषेध किया जा रहा है) ही अनर्थ का कारण हो जायगा। जैसे याग में अपनी स्त्री से भोग आदि। क्योंकि उसका (स्त्रीगमन का) निषेध यज्ञ के लिये किया जाता है, न मानने पर (स्त्रीगमन करने पर) याग में वैगुण्य (विरुद्धगुण-निष्फलत्व-विरुद्धफलत्व) आ जायगा।

अर्थवादमीमांसा

अत्यन्तप्रशंसा तथा अत्यन्तनिन्दापर वाक्य को अर्थवाद कहते हैं। लक्षणा से उसकी प्रयोजनवान् अर्थ में समाप्ति होती है। तथाहि—स्वार्थ के प्रतिपादन में

वदर्थपर्यवसानम्। तथा हि—अर्थवादवाक्यं हि स्वार्थप्रतिपादने प्रयोजनाभावाद्विधेयनिषेध्ययोः प्राशस्त्यनिन्दितत्वे लक्षणया प्रतिपादयति। स्वार्थमात्रपरत्वे आनर्थक्यप्रसङ्गात्। आम्नायस्य हि क्रियार्थत्वात्। न चेष्टापत्तिः; 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यध्ययनविधिना सकलवेदाध्ययनं कर्तव्यमिति बोधयता सर्ववेदस्य प्रयोजनवदर्थपर्यवसायित्वं सूचयतोपात्तत्वेनानर्थक्यानुपपत्तेः।

स द्विविधः—विधिशेषो निषेधशेषश्चेति। तत्र 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इत्यादिविधिशेषस्य 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादेर्विधेयार्थ-

---

चेति। आनर्थक्यं कदापि नेष्टमिति प्रतिपादयति स्वाध्याय इत्यादिना। विभजते स द्विविध इति। आद्यमुदाहरति तत्रेति।

अर्थवादवाक्य का प्रयोजन न होने से लक्षणाद्वारा विधेय एवं निषेध्य के लिये क्रम से प्राशस्त्य, निन्दितत्व का प्रतिपादन करता है, अन्यथा स्वार्थमात्रपर मानने से वह व्यर्थ हो जायगा।

प्रश्न—जैसे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्यादिवाक्य से शीघ्रगामिवायुदेवतारूप अर्थ के प्रतिपादन से वह अनर्थक नहीं होता, वैसे ही अर्थवादमात्रपरकवाक्य स्वार्थमात्रपर होने से भी निरर्थक कैसे ?

उत्तर—सम्पूर्णवेद ही साध्यरूपक्रिया के प्रतिपादक होते हैं, अतः सिद्धार्थप्रतिपादक अर्थवादवाक्यों के स्वार्थमात्रपरत्व मान्य होने पर व्यर्थता हो ही जायगी।

प्रश्न—अर्थवादवाक्य अनर्थक ही रहें क्या हानि ?

उत्तर—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययनविधि के द्वारा सकलवेदों का अध्ययन करना चाहिये, ऐसा सिद्धान्त व्यक्त करते हुये 'सभी वेद प्रयोजनवान् अर्थ में विश्रान्त होते हैं' ऐसे भगवत्तात्पर्य की कल्पना से प्रकृत में अनर्थकता का स्वीकार करना महान् अनर्थ होगा।

अर्थवाद के भी दो भेद होते हैं विधिशेष तथा निषेधशेष। 'वायव्यं श्वेतम्…' इत्यादि विधिशेष 'वायुर्वैक्षे…' इत्यादिविधेयअर्थ के प्राशस्त्य

स्य प्राशस्त्यबोधकतयार्थवत्त्वम्। 'बर्हिषि रजतं न देयम्'इत्यादिनिषेध-शेषस्य, 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इत्यादेर्निषेध्यस्य निन्दितत्व-बोधकतयार्थवत्त्वम्। न च प्राशस्त्यादिबोधस्य निष्प्रयोजनत्वेन नार्थ-वादस्यार्थवत्त्वमिति वाच्यम्; आलस्यादिवशादप्रवर्तमानस्य पुंसः प्रवृत्त्यादिजनकत्वेन तद्बोधस्योपयोगात्।

स पुनस्त्रेधा। तदुक्तम्—'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः' इति। अस्यार्थः—प्रमाणान्तर-विरोधे सत्यर्थवादो गुणवादः, यथा 'आदित्यो यूपः' इत्यादिः। यूप आदित्याभेदस्य प्रत्यक्षबाधितत्वादादित्यवदुज्ज्वलत्वरूपगुणोऽनेन लक्षणया प्रतिपाद्यते। प्रमाणान्तरावगतार्थबोधकोऽर्थवादोऽनुवादः, यथा 'अग्नि-

---

द्वितीयमुदाहरति बर्हिषीति। अर्थवादस्य निष्प्रयोजनतामाशङ्क्य उत्तरयति आलस्यादीति। पुनरपि तं त्रेधा विभजते स पुनरिति। सः=अर्थवादः। प्रमाणयति स्वोक्तिमभियुक्तोक्त्या तदुक्तमिति। प्रथमं गुणवादं सस्वरूपोदाहरणं लक्षयति प्रमाणान्तरेति। अनुवादं द्वितीयं लक्षयति प्रमाणान्तरेति। तृतीयं

बोधक होने से अर्थवत् होता है।

'बर्हिषि रजतम्…' इत्यादि निषेधशेष 'सोऽरोदीत्…' इत्यादि निषेध्य के निन्दितत्व के बोधक होने से सार्थक होता है।

प्रश्न—प्रशंसा तथा निन्दा ये दोनों ही निरर्थक हैं, अतः अर्थवाद वाक्यों की भी व्यर्थता अनिवार्य होगी?

उत्तर—आलस्य आदि के कारण न प्रवृत्त होते हुये पुरुष की प्रवृत्ति आदि के जनक होने से वह अत्यन्त उपयोगी होता है।

अर्थवाद के पुनः तीन भेद होते हैं गुणवाद, अनुवाद तथा भूतार्थवाद। प्रमाणान्तर का विरोध उपस्थित रहने पर जो अर्थवाद हो उसे गुणवाद कहते हैं, जैसे—'आदित्यो यूपः' इत्यादि। यहाँ पर यूप तथा आदित्य का अभेद प्रत्यक्ष-प्रमाण से ही बाधित है, अतः आदित्य की तरह उज्ज्वलत्वरूपगुण ही लक्षणा से उस में कहा जाता है।

प्रमाणान्तर से अवगत अर्थ का बोधक जो अर्थवाद उसे अनुवाद कहते हैं।

हिमस्य भेषजम्'इति, अत्र हिमविरोधित्वस्याग्नौ प्रत्यक्षावगतत्वात्। प्रमाणान्तरविरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधकोऽर्थवादो भूतार्थवादः, यथा 'इन्द्रः वृत्राय वज्रमुदयच्छत्'इत्यादिः।

इत्यर्थवादमीमांसा।

निष्कर्षः—एवं च 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिनिखिलवेदस्य साक्षात्परम्परया वा यागादिधर्मप्रतिपादकत्वं सिद्धम्।

सोऽयं धर्मो यदुद्दिश्य विहितस्तदुद्देशेन क्रियमाणस्तद्धेतुः। ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः।

न च तदर्पणबुद्ध्यानुष्ठाने प्रमाणाभावः? 'यत्करोषि यदश्नासि

भूतार्थवादमाह प्रमाणान्तरविरोधेति।

इदानीं निरूपितस्य पञ्चविधवेदस्य साक्षात्परम्परान्यतरसम्बन्धेन यागादिधर्मप्रतिपादकतया सार्थक्यं निष्कृष्य प्रदर्शयति एवं चेति। शास्त्रे 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' इति लक्षणाल्लक्षितस्य धर्मस्य निःश्रेयससाधकतां बोधयति ईश्वरार्पणेति। स्मृतयश्च श्रुतिमूलकत्वेनैव प्रमाणभूता इति कृतं

जैसे 'अग्निर्हिमस्य···' यहाँ पर हिमविरोधिता अग्नि में प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध है। प्रमाणान्तर का विरोध तथा तत्प्राप्ति से रहित अर्थ का बोधक जो अर्थवाद उसे भूतार्थवाद कहते हैं, जैसे 'इन्द्रो वृत्राय···' इत्यादि।

ग्रन्थ का उपसंहार—

इस प्रकार 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि सम्पूर्णवेद में साक्षात् अथवा परम्परासम्बन्ध से याग आदि धर्म की प्रतिपादकता सिद्ध हो जाती है।

वह यह धर्म (यागादिरूप) जिसके उद्देश से विहित है उसके उद्देश से किया जाता हुआ उसका हेतु होता है। ईश्वर के अर्पण की बुद्धि से किया जाता हुआ निःश्रेयस (मोक्ष) का कारण होता है।

प्रश्न—ईश्वरार्पणबुद्धि से अनुष्ठान करने में कोई प्रमाण नहीं।

उत्तर—हे अर्जुन ! जो करता है, जो खाता है, जो होम करता है, जो देता

यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्' इति भगवद्गीतास्मृतेरेव प्रमाणत्वात्। स्मृतिचरणे तत्प्रामाण्यस्य श्रुतिमूलकत्वेन व्यवस्थापनादिति शिवम्।

बालानां सुखबोधाय भास्करेण सुमेधसा।
रचितोऽयं समासेन जैमिनीयार्थसंग्रहः॥

इति श्रीलौगाक्षिभास्करविरचितः पूर्वमीमांसायाः अर्थसंग्रहः समाप्तः।

—:०:—

बहुशास्त्रार्थेन।

ग्रन्थमुपसंहरति इति शिवमिति।

इति जौनपुरबदलापुराभिजन-काशीवास्तव्य-सरयूपारीणशुक्ल-अष्टोत्तरशत-
ग्रन्थनिर्मातृ-संस्कृताशुकविचक्रवर्त्ति-शास्त्रार्थजगत्प्रसिद्ध-स्व०पण्डित-
राजश्रीवेणीमाधवशास्त्रितनूजेन प्रायःपञ्चाशद्ग्रन्थरचयित्रा-
काशीस्थशास्त्रार्थमहाविद्यालयप्रधानाचार्येण दार्शनिकेन
श्रीराजनारायणशास्त्रिणा रचितः
अर्थसंग्रहविधिः समाप्तः।



है, जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे, यह भगवद्गीतास्मृति ही प्रमाण हो जायगी। स्मृतिपाद में श्रुतिमूलक होने से स्मृतियों के प्रामाण्य की व्यवस्था की गई है।

सुमेधसा भास्करेण बालानां सुखबोधाय समासेन अयं जैमिनीयार्थसंग्रहः रचितः।

विद्वान् लौगाक्षि भास्कराचार्य ने बालकों (अन्यशास्त्रों में व्युत्पन्न तथा मीमांसाशास्त्र में सर्वथा अनभिज्ञों) के लिये संक्षेप से इस मीमांसाशास्त्र के अर्थसंग्रहनामक ग्रन्थ को बनाया।

स्व० पण्डितराजश्रीवेणीमाधवशुक्लतनूज—काशीस्थशास्त्रार्थ-
महाविद्यालयाध्यक्ष—प्रायःपञ्चाशद्ग्रन्थप्रणेतृ—दार्शनिक-
श्रीराजनारायणशास्त्रिकृता प्रभाऽर्थ-
संग्रहस्य समाप्ता।

—:❋:—

सर्वविधपुस्तकप्राप्तिस्थानम्—

मास्टर खेलाड़ीलाल ऐण्ड सन्स

संस्कृत बुकडिपो,

कचौड़ीगली, बनारस-१

प्रकाशिता ग्रन्थाः ।

शास्त्रार्थमहाविद्यालय, मीरघाट, काशी-प्रधानाचार्येण नव्यन्यायाचार्येण **श्रीराजनारायणशुक्लेन** सम्पादिताः कतिपये विनिर्मिताश्च ।

न्यायशास्त्रे—

व्युत्पत्तिवादः—शास्त्रार्थकलासहितः
प्रमाण्यवादः—प्रभासमन्वितः
अवच्छेदकत्वनिरुक्तिः-विवृतिसहिता
सादृश्यशास्त्रार्थकला—सटिप्पणी
समवायसम्बन्धसाधनम्
तर्कसंग्रहः—टिप्पणीसहितः
कुसुमाञ्जलिः—यन्त्रस्था
तर्कभाषा

व्याकरणे—

कौमुदीकल्पलतिका
परिष्कारदर्पणः
परिभाषेन्दुशेखरः—शास्त्रार्थकला-सहितः
मनोरमाशब्दरत्नप्रश्नोत्तरावली—खण्डत्रय
न्यास-कल्पलता
परिभाषेन्दु-प्रश्नपञ्जिका
व्युत्पत्तिवाद-प्रश्नोत्तरी
प्रयोगशास्त्रार्थकला

न्याय-शास्त्रार्थकला
वैयाकरणभूषणसारः—यन्त्रस्थः
लौकिकन्यायशास्त्रार्थकला
रूपप्रभा

काव्ये—

रामवनगमनम्—प्रभासहितम्
विदुलोपाख्यानम्— ,, ,,

धर्मशास्त्रे—

गायत्रीमन्त्रभाष्यम्
अर्हत्तिथिभास्करः

पुराणे—

श्रीमद्भागवत-शास्त्रार्थकला
गोपीगीतम्

सामान्यदर्शने—

गोकुलदर्शनकलानिधिः

दर्शने—

सांख्यकारिका—यन्त्रस्था

हिन्दी—

श्रेष्ठ जीवन

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्—
मास्टर खेलाड़ीलाल ऐण्ड सन्स,
संस्कृत बुकडिपो, कचौड़ीगली, बनारस—१